कला और मानव

ाल सीताराम मर्ढेकर

प्रस्तावना

इन चार लेखों में मेरे जो विश्वास और धारणाएं समाविष्ट हैं, उनके इतिहास के विषय में कुछ जानने में शायद पाठकों को कुछ दिलचस्पी हो। संगृहीत रूप में यह लेख, काव्य और सौंदर्यशास्त्र के पारस्परिक सम्बन्ध का विशदीकरण, और उस विशदीकरण के द्वारा सौंदर्यनिष्ठ और साहित्यिक समस्याओं के प्रति नए दृष्टिकोण को न्याय्य ठहराने का प्रयास मात्र हैं। ऐसे प्रयास की सफलता व असफलता उसमें विकसित विश्लेषण की तर्कपूर्ण दृढ़ता और उसके प्रारम्भिक अनुभव-सम्बन्धी न्यास की मान्यता पर निर्भर होती है। यह प्रयास कैसे और क्यों किया गया है, इसका वर्णन न तो लाभप्रद है और न हानि-कारक। फिर भी मुझे विश्वास है कि उसका परिणाम उतना असंगत न होगा जितना कि वह प्रथम दृष्टि में दिखाई देता है, और जिनको इस विषय में वास्तविक कौतूहल हो उनको प्रामाणिक विचार के लिए सामग्री मिल जायगी।

मेरे सौंदर्यनिष्ठ जीवन की कहानी मेरे अन्तर्द्वंद्व की गाथा है। यह अन्तर्द्वंद्व बहुत मर्मभेदी था, पर मेरे खयाल में मैंने कभी हिम्मत नहीं छोड़ी। जहां तक मुझे याद है, बचपन से ही दृष्टिविषयक संवेदनाएं, वस्तुओं के आकार, उनकी रेखाएं, रंग, पुंजीभूत आकृतियों ने मुझे इस प्रकार आकर्षित किया है कि मेरे बाकी सारे अनुभवों में इसकी बिल्कुल कोई समानता नहीं। उन क्षणों की आनन्दविह्वलता, जब संसार का अस्तित्व आंखों द्वारा ही था और मन को नेत्रगोचर वस्तुओं के अतिरिक्त और किसी चीज का ज्ञान न था, अवर्णनीय है। जैसे जैसे

मेरी आयु बढ़ती गई, वस्तुओं में नेत्रों का यह अवर्णनीय आनन्द, लवलीन करने वाली चाक्षुष कल्पनाओं का मोहक सौंदर्य और आश्चर्य, चित्रकला के लिए प्रेम में परिणत होगया । फिर उसके बाद अन्तर्द्वंद्व, शंका और संभ्रम का जमाना शुरू हुआ और मैंने यह अनुभव किया कि सौंदर्यनिष्ठ दृश्यों के प्रति मेरी सौंदर्यनिष्ठ प्रतिक्रिया उन लोगों की प्रतिक्रिया से जिन्होंने विद्यालयों में कला का प्रयोग और अभिमूल्यन सीखा था, तथा उनका अनुकरण करने वाले अधिकांश लोगों की प्रतिक्रिया से विभिन्न थी । वह ऐसे चित्रों की श्लाघा करते थे जिनमें श्लाघा करने योग्य मुझे कुछ नहीं दीख पड़ता था, और जो चित्र मुझे प्रत्यक्षतया बिल्कुल तन्मय कर देने वाले मालूम होते थे उनको प्रभावित नहीं कर पाते थे । यदि हम एक ही चित्र की श्लाघा करते थे तो हमारे ऐसा करने का कारण बहुत कम एक ही होता था । मैं पहले तो घबरा गया । फिर मुझे अपने पर शर्म आने लग गई और मैं पाखण्ड का शिकार हो गया, यानी झूठ बोलने लग गया । मैंने यत्नपूर्वक अपनी प्रतिक्रियाओं को छुपाने का प्रयास किया और प्रतिष्ठित लोगों के कथनों को केवल इस कारण दुहराने लग गया कि कहीं यह न समझा जाय कि मुझ में कलात्मक परख की कमी है ।

फिर मैं विलायत चला गया और वहाँ इटली तथा उसके बाद इटली की चित्रदीर्घाओं को देखता फिरा । कला में रुचि रखने वाले लोगों से भी मैंने कला संबंधी विचारों का आदान-प्रदान किया । तब भी दशा में बहुत कम सुधार हुआ । शिष्टाचार के लिए, और सौंदर्य के बारे में शक्की न समझा जाऊं, इस इच्छा के कारण, अपने प्रिय आनन्द का—जिसका अनुभव रोकना मेरी शक्ति से बाहर था—मेरा यत्न-पूर्वक निरोध, प्रारम्भिक अवस्थाओं में अतितीव्र मानसिक अशान्ति का मूल था । परन्तु शीघ्र ही यह एक आदत बन गई और सम्भव है कि धीरे-धीरे मैं अपनी सौंदर्यनिष्ठ संवेद्यता को, उसके प्रति लज्जित होने के

कारण, शिथिल कर बैठता। लेकिन Cezanne और Van Gogh ने मुझे इससे बचा लिया और जब मैंने Henri Matisse को देखा तो मेरे मन में कला के प्रति साररूप में शुद्ध दृष्टिकोण के बारे में कोई शंका न रही। मेरे प्रारम्भिक दृष्टिकोण का आनन्द भी दसगुणा होकर वापस आगया क्योंकि मैं अब उसकी खुली तौर से घोषणा कर सकता था। इन कलाकारों के सामने होने वाले अनुभवों का, जब मैंने पुराने इटालियन महान कलाकारों के सामने पैदा होने वाली अपनी भावनाओं का मुकाबिला किया तो मेरी आंखें खुल गईं और मेरा वह छुपाया हुआ विश्वास और भी दृढ़ होगया। फिर तो प्रभावों का सतत मुकाबिला और अन्योन्यसम्बन्धीकरण प्रारम्भ होगया तथा यह ढूंढने की कोशिश शुरु हुई कि मेरे अंदर वह क्या था जिसके कारण मैं बार-बार चित्र-वीथियों की तरफ खिंचता था और जिसको अन्यत्र कहीं शान्ति न मिलती थी और जो मुझे तब तक चैन न लेने देता था जब तक उसकी संतुष्टि न हो जाय।

इस प्रवृत्ति के साथ-साथ और अनुभव भी चलता रहा। यदि मैंने जीवन दृष्टिविषयक सौंदर्य से आरम्भ किया था, तो निरर्थक कविता के चार पदों की पहिली रचना भी दस वर्ष से कम आयु में की थी। तुक-बन्दी मेरे खयाल में अशोध्य कमजोरी है और मैं अभी भी कभी-कभी इस दुर्बलता का शिकार हो जाता हूं। परन्तु मैं जितना ज्यादा कविता को पढ़ता हूं और जितना ज्यादा उसको लिखने की कोशिश करता हूं, मेरा यह विश्वास दृढ़ होता जाता है कि कविता पूर्णरूप में संतुष्ट नहीं कर सकती। यह इस मानवी संसार की चाल-ढाल से दूषित है और संसार की क्षणभंगुरता इसमें इस प्रकार गुंथी हुई है कि यह शक किए बिना नहीं रहा जा सकता कि इसकी उस क्षणभंगुरता के अतिरिक्त और कोई सार्थकता नहीं। कविता के मेरे अभिमूल्यन में बहुत परिवर्तन होते रहे हैं। परन्तु चित्रकला में मेरा आनन्द समरस और उत्साह के एक ही

तल पर स्थिर रहा है। झूठी बातों की स्वीकृति की आवश्यकता भी, रेखाओं की सजावट और रंगों की आभा पर मेरी छुपी हुई स्फुरणों को मुझ से छीन नहीं सकी। अब भी वह मुझे उसी प्रकार आत्मविभोर करने वाले आनन्द से भर देती है जैसा वर्षों पहले करती थी। ईश्वर जानता है कि हम में से अधिकांश sophisticated हैं, परन्तु मेरे दृष्टिविषयक अनुभवों में एक प्रकार की एकता है जो मेरे काव्यमय अनुभवों में नहीं। कम से कम मुझे तो ऐसा लगता है। और जहां तक स्थिरता का सवाल है, नेत्रों से मुझे ऐसा अपरिवर्तनशील आनन्द मिला है जैसा सुख मुझे महान् से महान् कवियों से भी प्राप्त नहीं हुआ। क्या इसका कारण यह नहीं हो सकता कि नेत्रों से अनन्त वास्तविकता की अधिक सच्ची, कम से कम अपेक्षाकृत अधिक सच्ची, झलक मिलती है? और क्योंकि मैं इस समय तर्क के स्थान पर वैयक्तिक अनुभवों का वर्णन कर रहा हूं, मैं इस विचार को छुपाना नहीं चाहता कि केवल इन्द्रियों के द्वारा संसार को बिल्कुल निरर्थक देख सकना सावत्सर आनन्द के ऐसे स्रोत पर अधिकार जमाना है जिसके मुकाबिले में कविता द्वारा प्राप्त तुच्छ आनन्द बिल्कुल अचिरस्थायी या क्षणभंगुर मालूम होता है।

आंख और हृदय के इस संवर्ती अनुभवों से और इस भावना से कि नेत्रों से मुझे ऐसे वस्तु की प्राप्ति होती है जो नैसर्गिक रूप में स्थायी है तथा रंग द्वारा प्राप्त शक्ति से कि दिल ने भले ही धोखा दिया हो पर आंख कभी नहीं दे सकती, मेरे उन विचारों की धारा का प्रादुर्भाव हुआ जिनकी इन लेखों में प्रस्तुत विश्लेषण में परिणति हुई। चित्रकला द्वारा उत्पन्न गहरे अनुभवों का परिणाम जो भाव थे, उनका कला के साधारण सिद्धान्त के रूप में अन्वय करने का यह पुस्तक प्रयास है। और इसमें प्रयुक्त विधि विश्लेषणात्मक है। परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि मैंने केवल वैयक्तिक अनुभवों का सहारा लिया है। ध्यानपूर्वक पढ़ने वाला पाठक उनमें स्वयं ही आसानी से जांच लेगा कि

Roger Fry और Clive Bell जैसे पुरुषों से मैंने क्या कुछ सीखा और पाया है। कविता और सौंदर्यसम्बन्धी शास्त्रों का क्षेत्र बहुत विस्तृत है और इसमें विभिन्न तरीकों से काम किया गया है। और यह नग्न सत्य है कि मैंने इसकी सारी दुर्लभ सम्पत्ति को लेकर इसे रिक्त नहीं कर दिया है। अभी इसमें बहुत कुछ जानने और सीखने के लिए बाकी है। पर साथ ही यदि मैंने किसी विशेष सिद्धान्त का जिक्र नहीं किया या किसी पुस्तक से अंश उद्धृत नहीं किए तो इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि मैं उनसे अपरिचित हूं। सस्ते रूप में आदिविद्य दीखने का मेरा उद्देश्य कभी भी न था, और मैंने यथासम्भव इस पुस्तक को दृष्टान्तों, श्राद्धरणों और टिप्पणियों के बोझ से बचाने की कोशिश की है, क्योंकि इस प्रकार की उपस्थापना पुस्तक में समाविष्ट विश्लेषण को और स्पष्ट कर देती है। एक बार पाठक इस विश्लेषण को समझ जाय और मेरे दृष्टिकोण के गुण पहचान ले तो वह उन सब प्रतिवादों का जिनको अन्य सैद्धांतिक मेरे कथनों के बारे में करें और जिनके निश्चित उत्तर इस पुस्तक में नहीं, जवाब दे सकेगा। मुझे मालूम है कि मैं इस तरह आदिविद्यों और सर्वप्रिय सैद्धान्तिकों दोनों में से किसी ओर का न रहूंगा, क्योंकि आदिविद्य तो मुझे अप्रलेखीय समझेंगे और दूसरे अतिदुर्बोध।

अन्त में मैं उन सब का धन्यवाद करना चाहता हूं जिन्होंने इस पुस्तक की प्रतिलिपि पढ़ कर मुझे उपयोगी सलाह दी। मैं विशेष रूप से Elphinston College, Bombay के अंग्रेजी के प्रोफेसर श्री J. O. Bartley और दर्शन के अध्यापक श्री J. C. P. D' Andrade का धन्यवाद करता हूं जिनकी सहानुभूतिपूर्ण परन्तु तीव्र आलोचना का मैं बहुत आभारी हूं। मैं श्री P.V. Patankar, B.A. का भी अनुगृहीत हूं जिन्होंने इस पुस्तक के प्रूफ को बड़े ध्यान से देखा।

१९३६ बा. सी. मर्ढेकर

ललित कला के रूप में कविता का स्थान

जिस सौंदर्यशास्त्र को सुझाने का मैंने प्रयत्न किया है उसमें विभिन्न ललित कलाओं को एक या अधिक इन्द्रियों से सम्बन्धित किया है और यह दिखाया है कि सौंदर्य या सौंदर्यनिष्ठ आनन्द केवलमात्र संवेदनाओं के गुणों पर ही निर्भर है, इन संवेदनाओं में समाविष्ट किसी दूसरे संज्ञानी अंश पर नहीं, और न इस बात पर कि जिस विशिष्ट क्षेत्र में संवेदना से सम्बन्धित इन्द्रिय क्रियाशील है उसमें यह गुण किस प्रकार संगठित है। इस तथ्य पर तो ज्यादा जोर देने की जरूरत नहीं होनी चाहिए कि गुणों के संगठन का यह ज्ञान संवेदनाओं के ही अनुभव में निहित है और इस अनुभव के बाहर किसी समानान्तर प्रवृत्ति का परिणाम नहीं।

मेरे सौंदर्यशास्त्र सम्बन्धी अनुसन्धान में, कविता से निर्मल यानी सौंदर्यनिष्ठ आनन्द की प्राप्ति केवल इस लिए होती है क्योंकि उसके सब तत्व प्रनियमानुसार संगठित हैं, यानी लय और व्यतिरेक के नियमों के अनुकूल हैं। परन्तु यह आनन्द उतना गहरा नहीं जितना अन्य ललित कलाओं से प्राप्त आनन्द हो सकता है, और इसके दो कारण हैं। पहला तो यह कि कविता बिना किसी जांच पड़ताल के संवेदनाओं के सब गुणों का प्रयोग कर लेती है और सब इन्द्रियों को युगपत् क्रियारत होने के लिए बाध्य करती है। दूसरी बात यह है कि काव्यमय संवेदनाएं असली संवेदनाएं बिल्कुल नहीं हैं, केवल उनकी प्रतिकृतियां मात्र हैं, और क्योंकि इनमें असली संवेदनाओं की गहरी वास्तविकता नहीं रहती इनकी आनन्ददायिनी शक्ति भी कम होती है।

संवेदनाओं के अतिरिक्त आनन्द के स्रोत के रूप में कविता के अर्थों

के विषय में लिखा जा चुका है और मैंने यह स्पष्ट किया है कि मैं उन्हें अपेक्षाकृत निम्नकोटि का क्यों समझता हूं। प्रस्तावना से अंश उद्धृत किया जाय तो कहना पड़ेगा कि "यह मानव संसार के व्यापार से दूषित है, और इस कारण उस संसार की क्षणभंगुरता इसमें मूलरूप में इस तरह गुंथी हुई है कि व्यक्ति यह शक किए बिना नहीं रह सकता कि इसकी उस क्षणभंगुरता से ज्यादा और कोई सार्थकता नहीं।"

विषय-सूची

: १ :

माध्यम के विषय में

और कुछ लिखने से पहले एक बात स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। यदि इस अध्याय के शीर्षक से किसी को यह भ्रम हो गया हो कि इसमें उन रहस्यमय व्यक्तियों के विषय में कौतूहलोत्पादक तथा रोमाञ्चक बातें पढ़ने को मिलेंगी जो अपार्थिव चमत्कार-दर्शन के केन्द्र होते हैं तो उसे निराश होना पड़ेगा। मनोविज्ञान के उस सन्धिप्रकाशमय प्रदेश में प्रवेश करने की न तो मेरी इच्छा है और न मुझ में योग्यता ही है। मेरा विषय तो अपेक्षाकृत सादा है और यद्यपि इसमें रहस्य का पुट शायद नहीं फिर भी कम से कम मेरी दृष्टि में तो यह उतना ही आनन्दकर है। जिन माध्यमों में मेरी दिलचस्पी है और जिनके प्रयोजन तथा सार्थकता का अन्वेषण करना मैं चाहता हूँ, वे विभिन्न ललित कलाओं के माध्यम हैं। और अधिक स्पष्ट करके कहूँ तो मैं माध्यमों की साधारण प्रकृति के विषय में लिखना चाहता हूँ। जिन गुणों के कारण उनका माध्यमों के रूप में भिन्न रूप से अस्तित्व है, यानी जिन विशिष्टताओं के कारण वे एक दूसरे से भिन्न हैं, वह सब मेरे विषय से बाहर हैं। मेरा प्रयत्न तो माध्यमों का केवल साधारण रूप में अन्वेषण करना है। मैं तो सिर्फ़ यह जताना और बताना चाहता हूँ कि जब लोग किसी कला के माध्यम का ज़िक्र करते हैं तो इससे उनका क्या मतलब होता है और वास्तव में क्या होना चाहिए।

यह तो स्पष्ट हो ही गया होगा कि मेरे विचार में कला की समीक्षा करते समय आजकल जो लोग 'माध्यम' शब्द का प्रयोग करते हैं उनके मन

में इस शब्द का आशय स्पष्ट नहीं होता। प्राचीन समय में कलाकार कला की उत्पत्ति में ही ज्यादा संलग्न रहते थे, और वह क्या या क्यों कर रहे
बातों की ओर कम ध्यान देते थे। वह उन मानसिक प्रवृत्तियों के विश्लेषण की परवाह नहीं करते थे जो उनकी कलात्मक कृतियों में अन्तर्धृत थीं तथा उनके लिए सर्वदा प्रत्यक्ष रूप में अधिगम्य थीं। न उन्हें यह निर्धारित करने की चिन्ता थी कि इन प्रवृत्तियों में से कौन-सी उनकी कला के लिए अधिक उपादेय या प्रधान रूप से संगत है। सो इस आलोचनात्मक दृष्टिकोण के न होने के कारण यह स्वाभाविक था कि वह उन लोगों की हां में हां मिलाएं जिनका व्यवसाय ही आलोचना था। ऐसे लोग कलाकार की मानसिक प्रवृत्तियों या उसके कलात्मक साधन के बारे में जो कुछ भी कहें उसको मान लेने के सिवाय इन कलाकारों के पास और चारा ही क्या था! और यह आलोचक भी कलाकार की केवल उन बातों को महत्व देते थे जो उनके अपने व्यक्तित्व से सादृश्य रखती थीं। पर उस सारभूत विशिष्टता को, जिसके प्रताप से कलाकार अपने जैसे या अपने से अधिक बुद्धिमान् लोगों में कलाकार बन सका, समझ न सकते या समझने में गलती करते। सो यह स्वाभाविक था कि, जैसा कि Dr. Bosanquet ने लिखा है, जिस माध्यम का चिन्तन "ललित-कलाओं की अभिव्यक्ति के समस्त प्रनियम के सुतथ्यमय मूल" तक ले जाकर "सौंदर्य के रहस्य" को प्रकट करता है, उसकी कलाकारों ने अपनी उक्तियों में उपेक्षा की। मेरा मतलब यह है कि वह माध्यम की वास्तविक सार्थकता को सदैव और स्पष्ट रूप में पहचानने में असमर्थ रहे, हालांकि जब जब उन्होंने अपनी सहज स्वाभाविक कलात्मक प्रेरणा का आदेश माना, वह अनजाने ही, पर नैसर्गिक रूप में, अपनी कृतियों में इसे प्राप्त करते रहे।

परिणाम यह है कि माध्यम की इस धारणा को स्पष्ट करने के लिए परम्परागत प्रयत्न, जो अब इसका और भी विशदीकरण करने में सहायक होते, बहुत कम हैं। और जब माध्यम की महत्ता को समझा गया, जैसा

कि Lessing रचित Laocoon से प्रदर्शित है, तो चर्चा इस कारण दूषित और अनुपयोगी हो गई कि 'सौंदर्य' शब्द के विषय में संदिग्धता रही और उस विशेष प्रकृति को जो नैतिक दर्शन, विज्ञान या मानवी मन की अन्य कृतियों से ललित-कलाओं का भेदीकरण करती है और जो उनके अस्तित्व का एक-मात्र समर्थन है, ठीक तरह से समझा नहीं गया। अपने Three Lectures on Aesthetics में Dr. Bosanquet ने भी माध्यम की धारणा का विश्लेषण करने का यत्न नहीं किया और इसी कारण माध्यम को स्थूल पदार्थों से मिश्रित कर दिया। वह तो "गुफा की दीवार, सोने की प्लेट और कागज़ के टुकड़े" को भी माध्यम समझते हैं और काव्य के माध्यम की प्रकृति को तो उन्होंने बिल्कुल ही गलत समझा।

परन्तु पिछले कुछ वर्षों से एक तो कलाकारों का आत्मज्ञान बढ़ गया है जिसके कारण उनका आत्मविवेचन अधिक लाभदायक होने लगा है, दूसरी ओर कला-समीक्षक तथा सौंदर्य-शास्त्र के दार्शनिक भी अपने नैतिक एवं संकुचित दृष्टिकोण का स्वभावतः परित्याग करने के कारण वास्तविक रूप में सुन्दर अतः अधिक व्यापक एवं सहायक अनुभव प्राप्त करने लग गए हैं। कलात्मक कृति में माध्यम की धारणा का भी उसकी आवश्यकतानुसार महत्व बढ़ने लगा है। कोई एक साल की बात है, किसी आलोचक ने शायद लंदन के Times के Literary Supplement में कला की व्याख्या करते हुए कहा था कि कला माध्यम के रूप में आकृति का निर्माण है। मेरे खयाल में इससे अधिक सच्ची व्याख्या मिलना कठिन है। हमें केवल इस बात को समझ लेना चाहिए कि हम इस व्याख्या के 'माध्यम' शब्द को ठीक समझ रहे हैं या नहीं। मेरा विश्वास है कि किसी भी मान्य सौंदर्य-शास्त्र का अपेक्ष्य अंग इस शब्द का पूरा-पूरा विश्लेषण है। और यदि इसके ठीक अर्थ और महत्व को समझ लिया जाए तो 'प्रतिनिधान' (Representation) और 'अप्रतिनिधान' (Non-representation), 'सत्य', 'प्रकृति की नकल',

'ललित-कला के रूप में कविता क्या है' आदि समस्याएं, जो हमारे कला-समीक्षकों को भ्रम में डाल रही हैं, स्वयं ही हल हो जायंगी ।

तो फिर माध्यम क्या है ? इस शब्द के जो अर्थ New Oxford English Dictionary में दिए गए हैं, उनमें से कुछ नीचे गिनाता हूं :

१. मध्य परिमाण, दशा या गुण ।
   (क) मध्यश्रेणी, समझौता,
   (ख) बीच का मार्ग, समभाव,
   (ग) मध्यस्थित ।

२. तीन अंगों वाले न्याय का बीच का वाक्य यानी प्रमाण का कारण ।

३. सामान्य, औसत ।

४. (क) ऐसी वस्तु या सत्त्व जिसके द्वारा शक्ति दूरस्थित लक्ष्यों या इन्द्रियों पर प्रभाव डाल सके । उदाहरणतया वायु या आकाश । जैसे कहा भी है : "The air which is the medium of music and all sounds."[1]

   (ख) फैलने वाला या ढक लेने वाला सारांश—ऐसा सत्त्व जिसमें प्राणी रहता हो, जैसे व्यक्ति का पड़ौस । दृष्टान्त के तौर पर Goethe का वाक्य देखिए : "You cannot thus abstract any man from the social medium by which he is surrounded."[2]

५. मध्यस्थित आधार, कारण, निमित्त अथवा साधन । माध्यम से या माध्यम द्वारा मध्यस्थ होना या बीच-बिचाव करना ।

---

१. वायु जो कि संगीत तथा सब ध्वनियों का माध्यम है ।
२. तुम किसी मनुष्य को जिस सामाजिक माध्यम से वह घिरा हुआ है पृथक नहीं कर सकते ।

अदले-बदले का या प्रचार का माध्यम। उदाहरणतया Burke का यह वाक्य: "The Proposition is peace, not peace through the medium of war."[1]

६. (क) चित्राङ्कन: कोई तरल पदार्थ—जल या तेल—जिसमें रंगद्रव्य उपयोग के लिए मिलाए जाते हों।

(ख) किसी प्रकार की भी चित्रकला जिसमें प्रयुक्त विभिन्नता उसमें प्रयुक्त साधन के कारण निर्धारित हो—जैसे तैलचित्र, जलचित्र, दीवारों पर खींचे चित्र, आदि।
भाचित्रण—इसमें पुनरंङ्कन के लिए वार्निश साधन के रूप में प्रयुक्त किया जाता है।

७. नाटकीय—स्टेज पर रंगीन रोशनी डालने के लिए गैस की टोंटी के सामने जो परदा या आवरण डाला जाता है।

'माध्यम' शब्द के इन अर्थों पर एक नजर डालने से ही पाठक को यह स्पष्ट हो गया होगा कि ललित-कलाओं के क्षेत्र में भी यह शब्द सदैव एक ही तरह की धारणा का द्योतक नहीं होता। आप यह कह सकते हैं कि वायु संगीत का माध्यम है, पर कुछ लोग शायद यह कहना पसन्द करें कि ध्वनियां संगीत का माध्यम हैं। पत्थर या संगमर्मर को शिल्पकला का माध्यम कहने से वह तात्पर्य नहीं होता जो चित्रकला का माध्यम रंगों को बताने से निकलता है। निम्नलिखित अनुपात तो निश्चय ही माध्यम शब्द के विषय में भ्रान्ति पैदा करता है:

वायु : संगीत : जल (अथवा तेल) : चित्रकला

यदि, जैसा कि Sir B. Brodie ने लिखा है कि "The seal.......except through the medium of his

---

1. साध्य तो शान्ति है पर युद्ध के माध्यम द्वारा शान्ति नहीं।

whiskers (may be said) to have no sense of touch at all."[१] हम भी कहें कि प्राणी को कानों के माध्यम के बिना श्रवण-ज्ञान नहीं मिल सकता तो यह माध्यम का दूसरे अर्थों में उपयोग होगा। और देखिए। हम यह कह सकते हैं कि Shakespeare अथवा Dante ने कविता के माध्यम द्वारा जीवन-सम्बन्धी अपनी कल्पना की अभिव्यक्ति की। पर साथ ही यह कहना भी गलत नहीं होगा कि Wordsworth ने तो काव्यमय माध्यम में लिखा और Shakespeare ने नहीं। इस अन्तिम वाक्य में माध्यम शब्द का प्रयोग उसी अर्थ में हुआ है जिसमें Mathew Arnold ने Burns के अप्रिय माध्यम का वर्णन करते हुए किया। और इन सब में से कोई भी अर्थ Bosanquet की गुफा की दीवार या सोने की प्लेट या कागज़ के टुकड़े का माध्यम होने की धारणा के साथ नहीं चलेगा।

कला के प्रति दृष्टिकोण में जो भ्रामकता है वह माध्यम शब्द की परिभाषाओं में इस गड़बड़ तथा कला-समीक्षा में इस शब्द के विभिन्न अर्थों में तथा अविवेकपूर्ण प्रयोग के कारण है। परन्तु अर्थों की यह अराजकता और बहुतायत बिल्कुल निरंकुश नहीं। और यदि इनके केन्द्रीय-भाव को दृष्टिगोचर रखा जाए तो लक्ष्यपूर्ति यानी कला के माध्यम की भावना की परिभाषा निश्चित करने में कुछ न कुछ सफलता अवश्य होगी।

जैसा कि आप आसानी से देख सकते हैं, माध्यम के इन सब अर्थों में केन्द्रीय भाव यही है कि किसी भी त्रिपदात्मक प्रवृत्ति का बीच का पद माध्यम है। परन्तु संसार के सब व्यापार सतत हैं, हमेशा चलते रहते हैं। सो विश्लेषण के खयाल से यह बहुपदात्मक है। इसलिए यह प्रश्न भी सापेक्ष त्रिपदात्मिकता का बन जाता है। हम किसी की त्रिपदात्मक संज्ञा

---

१. कहा जा सकता है कि सील मछली को मूँछों के माध्यम के अतिरिक्त स्पर्श ज्ञान नहीं होता।

के मध्य के पद को माध्यम कह सकते हैं। माध्यम की परिभाषा निर्धारित करने में हमारी सफलता इन पदों को विभक्त करने वाली रेखाओं को जताने की सफलता पर निर्भर होगी।

इस नियम को कला के क्षेत्र में, यानी कला का उत्पादन करने वाली प्रवृत्तियों पर लागू करने के लिए हमें सब से पहले इस बात को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि पहला या तीसरा पद क्या है। यदि एक बार इन दोनों की सीमायें निर्धारित हो जायं तो मध्यपद के बारे में कोई कठिनाई नहीं होगी। फिर तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि कला-समीक्षा में माध्यम शब्द के प्रयोग में जो संदिग्धता है वह मध्यस्थ पद की भावना में निहित संदिग्धता या भ्रम के कारण नहीं। क्रम में पहले या पीछे आने वाले पदों की सीमा निर्धारित करने में असफलता और इसके परिणाम-स्वरूप समग्र प्रवृत्ति की वास्तविक प्रगति को जांचने में असमर्थता ही इसका कारण है। इसी कारण प्रासंगिक, सारभूत एवं संगत पद छूट जाते हैं और भ्रामक, अप्रासंगिक एवं अप्रधान पदों का समावेश हो जाता है। प्राथमिक और अन्तिम पदों के विषय में इस भ्रान्ति से ही कला-समीक्षा सम्बन्धी सब उपरिलिखित समस्याएं पैदा होती हैं।

एक साधारण दृष्टान्त लीजिए। यदि पहला पद ऐसा पदार्थ है जो ध्वनि पैदा करता है जैसे कि ग्रामोफोन का रिकार्ड, और तीसरा पद आराम कुर्सी में बैठे हुए श्रोता का कान या श्रवण करने वाली पेशी हो, तब वायु को माध्यम कहना ठीक होगा। परन्तु यदि गायक को प्रथम और श्रोता को तीसरा पद माना जाए तो रिकार्ड ही माध्यम बन जाता है। और यदि उपयोगिता तीसरा पद हो और रंग पहला तब जल या तेल माध्यम होंगे। इसी प्रकार अन्य पदों के बारे में समझ लिया जा सकता है।

प्रथम और अन्तिम पद और विशेष कर अन्तिम पद का अर्थ निश्चित करने के लिए हमें सौंदर्यनिष्ठ प्रगति की कैसी कल्पना करनी चाहिए?

मुझे इसकी जो सर्वप्रिय धारणा जान पड़ती है, इसी से ही शुरू करके देखा जाए। यह सर्वप्रिय धारणा इस प्रकार निरूपित की जा सकती है :

कलाकार : माध्यम : कलाकृति

मैंने अभी लिखा है कि हमें तीसरे पद का विशेष रूप से विश्लेषण करना होगा, क्योंकि अन्त के साथ सम्बन्ध होने के कारण ही कोई वस्तु माध्यम होती है। परन्तु प्रथम पद का पहले विश्लेषण करना सहायक होगा और इससे दूसरी समस्या को सुलझाने में सुगमता हो सकती है। जहाँ तक कलाकार का सम्बन्ध है, यह कहना तो विवेचना का एक साधारण फैशन हो गया है कि वह अपने सारे व्यक्तित्व को कला में अभिव्यक्त करता है यानी सौंदर्यनिष्ठ विधा में कलाकार का पूर्ण व्यक्तित्व काम कर रहा होता है। परन्तु यह धारणा असल में भ्रामक है और इसमें धोखा देने वाला शब्द 'व्यक्तित्व' है। क्योंकि व्यक्तित्व इकाई नहीं, हालांकि इसका अनुकलन किया जा सकता है। व्यक्तित्व के बहुत से अंश हैं, और यह अंश चेतन प्राणी के पार्थिव जगत् के साथ विभिन्न प्रकार के आदान-प्रदान से उत्पन्न होते हैं।

व्यक्तित्व के विभिन्न अंश पार्थिव जगत् के विभिन्न अंगों से सम्बन्धित हैं, और इन विभिन्न सम्बन्धों में ही इनकी मुख्य संगतता है। कलाकार कलाकार होने के साथ-साथ प्राणी भी है जिसे शारीरिक क्षुधाएं सताती हैं, जिस पर सामाजिक उत्तरदायित्वों का भार है, जिसके राजनीतिक पक्षपात हैं और जो संभवतया नैतिक एवं धार्मिक अभिलाषाओं अथवा उत्कंठाओं से उत्तेजित और प्रेरित होता है। इसके व्यक्तित्व के कुछ या सब अंश इस प्रकार विकसित होकर उसकी कृतियों में गौणरूप से प्रयुक्त हो सकते हैं। परन्तु इनमें से कोई भी मुख्यरूप से महत्वपूर्ण नहीं। यदि वह इनको बिल्कुल पृथक् नहीं कर सकता तो इसका कारण केवल यह है कि वह एक मानवप्राणी है और ईश्वर नहीं। और जिस मात्रा या परिमाण में वह अपने व्यक्तित्व के उस अंश पर जिसके कारण और सिर्फ

जिसके कारण वह कलाकार है, उन दूसरे अंशों को हस्तक्षेप करने से, यत्नपूर्वक व नैसर्गिक बुद्धि से रोक सकेगा, उसी मात्रा में वह बड़ा या छोटा कलाकार होगा ।

बाकी अंश चाहे कितने भी विभिन्न हों, कलात्मक कृतियों में उनका कुछ महत्व नहीं। और इन विभिन्नताओं के बावजूद सभी कलाकार समान रूप से श्रेष्ठ होंगे । एक लोकतन्त्रवादी कलाकार द्वारा अंकित किया हुआ चित्र राजतन्त्रवादी के बनाए चित्र से भिन्न होगा । एक नास्तिक उस प्रकार का चित्र नहीं बनाएगा जैसा कि एक आस्तिक । वाणिज्य-व्यापार को महत्व देने वाले युग की शिल्पकला धार्मिक युग की कला से भिन्न होगी । धर्मोत्सवों पर किया गया हब्शियों का नृत्य भारतीय कृष्ण-गोपियों के नाच के समान नहीं हो सकता । इन सब दृष्टान्तों में से यदि कलाकार संगत अंश की अभिव्यक्ति को नष्ट न होने देकर अप्रासंगिक अंशों से प्रेरणा प्राप्त करने में सफल हो सकें तो वह समानरूप से महान् हैं। सो कलाकार के समग्र व्यक्तित्व की उसकी कृति में कार्यान्वित होने की प्रस्थापना[1] को केवल इस अर्थ में स्वीकार किया जा सकता है कि जिस समय कलाकार अपनी कृति के प्रतिपादन में लगा होता है, उस समय यह महान् संगत और प्रासंगिक अंश उसकी समूची चेतना पर छाया रहता है और अन्य अंशों का जो अकस्मात् काम करने लग चुके होते हैं या लग जाएं, अवरोध कर डालता है।

आप पूछेंगे कि यह कौन-सा अंश है जो कलात्मक कृतियों में उनके कलात्मक कृति होने के नाते सब से अधिक संगत है । इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें यह अवश्य समझ लेना चाहिए कि साधारण मनुष्य की प्रकृति और कलाकार की प्रकृति में केवल यही अन्तर है कि कलाकार में सौंदर्य सम्बन्धी संवेद्यता निश्चित रूप से रहती है । इस

---

१. Proposition

कलात्मक प्रकृति को कलाकार का विशिष्ट दृष्टिकोण भी कह कर पुकारा जा सकता है। केवल दुर्भाग्यवश इस दृष्टिकोण शब्द से कृत्रिमता की बू आती है और सौन्दर्य सम्बन्धी संवेद्यता तो कलाकार के मानसिक निर्माण का सहज स्वाभाविक लक्षण है। कई प्रसिद्ध समीक्षकों ने किसी विशिष्ट सौंदर्यभावना का अस्तित्व स्वीकार करने में आपत्ति की है। जहां तक मेरा खयाल है उनकी कठिनाई एक अनुभव पर जो निश्चित तथ्य है, विशिष्ट भावनामय प्रकृति का आरोपण करने में है, उस अनुभव का अस्तित्व स्वीकार करने में नहीं, और मुझे पूरा विश्वास है कि यह अनुभव या भावना सौंदर्य-सम्बन्धी संवेद्यता का प्रकार्य है। सौंदर्य-सम्बन्धी संवेद्यता इन्द्रिय-जनित संवेदनाओं को सूक्ष्म रूप में ग्रहण करने वाली और तत्पर संवेदनशीलता है। इसका विशेष गुण इन संवेदनाओं में दीर्घस्थायी, यहां तक कि मर्मभेदी भी, ऐसा आनन्द लेने में है जिनमें उन विचारों का प्रतिबन्ध और मिश्रण न हो जो विकासशील मानवहृदय बढ़ते समय विकसित कर लेता है और वातावरण के साथ ठीक तरह से समझौता करने के लिए इन्द्रिय सम्बन्धी संवेदनाओं के साथ मिश्रित कर लेता है। ऐन्द्रिक संवेदनाओं में यह श्रेष्ठ आनन्द जिसमें उनके 'अभिप्राय' की छाया भी न हो, संवेद्यता का तथ्य है और सौंदर्य-शास्त्र के लिए अत्यन्त गहन, निरपेक्ष एवं सार्थक न्यास है। इसकी निन्दा या उपेक्षा, जैसा कि फैशन है, या इसका अतिगर्वपूर्ण निरादर, जैसा कि प्रायः प्रलोभन रहता है, इन दोनों से बढ़ कर और कोई बात सौंदर्यशास्त्र के सिद्धान्त तथा उसकी समीक्षा को हानि नहीं पहुँचा सकती।

ऐसे विषयों में छोटा-सा दृष्टान्त विस्तृत सिद्धान्त प्रतिपादन से अधिक लाभदायक होता है। इस लिए मैं अपने शास्त्रार्थ का विषय कुछ साधारण उदाहरणों से प्रमाणित करूंगा। एक वृक्ष गहरे हरे रंग के पत्तों से ढंका हुआ है। कलाकार को, मान लीजिये कि वह चित्रकार है, वृक्ष की विशेषता उसके इस रंग, उसकी रेखाओं तथा उसकी आकृति में है। इस हरियावल, ढेरपुंज आदि की आकृति ही उसे वशीभूत

करेगी। कलाकार के रूप में उसके लिए इस बात का ज़रा भी महत्व नहीं कि अयनवृत्त सम्बन्धी सूर्य की जलाने वाली तपश से थके हुए किसी पथिक को यह हरे-भरे पत्तों के गुच्छे छायादार आश्रय देंगे। अनार के दानों की प्लेट देखकर उसे बीजों के श्वेत एवं सेंदुरमय रंग पर अत्यन्त हर्ष होगा, पर यह विचार कि उनसे उसके पेट की भूख की ज्वाला शान्त हो सकती है, शायद ही उसके मन में आए। अगर वह फल आस्वादन करने पर उसकी जिह्वा के स्वाद को उतना ही बिगाड़ दे जितना उसने उसकी आँखों को प्रलोभित किया था, तो भी उसके सौन्दर्यनिष्ठ आनन्द में रत्ती या अणुभर भी कमी नहीं होगी।

इटली के एक समीक्षक Ardengo Soffici ने, जो स्वयं कलाकार था और जिसे इस बात का ज्ञान होना चाहिए था, कहा है: "non vede nella realta stessa cheun tessuto di elimenti pittorici."[1]

संगीत के विषय में तो यह बात और भी विशेष रूप से स्पष्ट हो जाती है। परन्तु यह मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि यह वही बात नहीं जो Dr. Bosanquet की उक्ति 'easy beauty'[2] से अभिप्रेत है। इन्द्रियों द्वारा, विश्व के विभिन्न अंगों के, उनकी अपूर्व घनिष्ठता और पवित्रतामय रूप में, तीव्र आस्वादन तक पहुँची हुई यह सौंदर्यनिष्ठ संवेद्यता ही कलाकार का निर्माण करती है। केवल इसी अर्थ में कला उस सत्य की अभिव्यक्ति करती है जो वास्तविकता है और आकस्मिक मानवीय अनुभवों से स्वाधीन है। इसी अर्थ में शैशवमय कल्पना का सिद्धान्त सत्य है।

---

१. कलाकार वास्तविकता में भी चित्रमय जगत के ताने बाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं देखता।

२. सरल सौंदर्य।

सो सौंदर्यनिष्ठ संवेद्यता, ऐन्द्रियजनित संवेदनाओं में उनके केवल ऐन्द्रियनिष्ठ गुणों के कारण आनन्द, सौंदर्यनिष्ठ प्रवृत्ति का प्रथम पद है। अब तीसरे पद के बारे में क्या कहा जा सकता है ?

सर्वस्वीकृत धारणा के अनुसार कलात्मक कृति ही तीसरा पद समझा जाता है। परन्तु यह शब्द भी अस्पष्ट एवं भ्रामक है। क्योंकि जिसे हम कलात्मक कृति कहते हैं, इसका भी स्थूल पदार्थ के रूप में विश्लेषण हो सकता है जिसके ऐसे अन्य स्थूल पदार्थों जैसे लक्षण हों जो कलात्मक कृतियाँ बिल्कुल नहीं या विभिन्न कला की कृतियाँ हैं। किसी भी मूर्ति का रंग उस पदार्थ जैसा होता है जिससे वह बनाई जाती है, परन्तु रंग वह चीज़ नहीं जिससे मूर्तिकला को सरोकार हो। एक चित्र का भार और स्थूलाकार होता है और उसका अनुभव किया जा सकता है। पर इन गुणों के कारण चित्र की प्रशंसा नहीं की जाती। संगीत में शारीरिक चेष्टाओं का समावेश रहता है, पर केवल इस कारण उसके अभिमूल्यन की विधि वही नहीं हो सकती जो नृत्य की होती है। इसी प्रकार अन्य दृष्टान्त दिए जा सकते हैं। दूसरी बात यह है कि कलात्मक कृति बेचे जाने योग्य वस्तु है और इस कारण उसकी आर्थिक कीमत है। तीसरी बात यह है कि कलाकार विशिष्ट सामाजिक वातावरण में रहता है जिससे उसे प्रेरणा मिलती है। उदाहरणतया योरुप के कलाकार योरुपियन वेशभूषा पहिने पुरुषों को या ईसाई धर्म की उपकथाओं को चित्रित करेंगे। भारतीय धोती या पगड़ी पहने व्यक्तियों का या अपने सहस्रों देवताओं में से किसी का चित्र बनायंगे। इसी प्रकार चीन-देशनिवासी चीनी वरदी पहिने लोगों को अंकित करेंगे या अपूर्व बोधिसत्वों की मूर्त्तियां बनायंगे। और आधुनिक रूसी कला की तरह कलात्मक कृति की "प्रचारक या संदेश-वाहक" के रूप में भी उपादेयता हो सकती है, अर्थात् कला का प्रोपेगंडा के लिए भी प्रयोग किया जा सकता है।

कलात्मक कृति के ये विभिन्न अंग विभिन्न लक्ष्यों की पर्ति करते हैं।

परन्तु वास्तविक सौंदर्यनिष्ठ प्रवृत्ति का इनमें से कोई भी तीसरा पद नहीं हो सकता, क्योंकि इनमें से एक भी कलाकार की सौंदर्यनिष्ठ संवेद्यता को, जो कि हमारी प्रथम शर्त है, संतुष्ट नहीं कर सकता। दूसरे इनमें से कोई भी तीसरा पद इस कारण भी नहीं हो सकता कि न तो यह अनस्थिर हैं और न अनिवार्य। तीसरा पद तो केवल वही है जो कलात्मक कृति की परमावश्यक विशेषता हो और जिसके बिना बाकी सब लक्ष्यों की पूर्ति करती हुई भी वह कृति कलात्मक कृति न रहे और जो सब कलात्मक कृतियों में उनके लक्ष्यों की विषमता के कारण उत्पन्न विभिन्नताओं के बावजूद समानरूप से निहित है। कलात्मक कृतियों की यह विशेषता सौंदर्य कहलाती है।

पर जैसा कि Pilate ने सत्य के सम्बन्ध में प्रश्न किया था, आप भी सौंदर्य के सम्बन्ध में पूछ सकते हैं कि "What is Beauty?"[1] सो यहां तो मैं केवल इतना ही कह सकता हूं कि सौंदर्य वह शक्ति है जिसके द्वारा कोई सौंदर्यजनक संवेदना, उस अर्थ की उपेक्षा करते हुए जिसको संवेदना से सम्बन्धित किया जाय, किसी व्यक्ति को आकर्षित करती है। दूसरे शब्दों में सौंदर्य पार्थिव जगत् के ध्वनि, रंग आदि किसी विशिष्ट अंग की केवल उस अंग के रूप में, किसी बाह्य अर्थ को ध्वनित किए बिना आकर्षण करने वाली शक्ति है। इस आकर्षण की अभिव्यक्ति ही कलाकार का लक्ष्य है—जबतक वह कलाकार रहता है, यानी जहां तक वह अपनी सौंदर्यनिष्ठ प्रेरणा का अनुसरण करता है और उसे प्राप्त सामग्री पर काम करने देता है। सो सौंदर्यनिष्ठ प्रवृत्ति का यही तीसरा पद है।

संक्षेप में सौंदर्यनिष्ठ प्रवृत्ति विश्व के किसी विशेष अंग के प्रति विशिष्ट, असाधारण रूप में तीव्र तथा पूर्णरूप से लवलीन संवेदनशीलता

---

१. सौंदर्य क्या है?

का नाम है, बशर्ते उस अंग का प्रयोग उसमें निहित ऐसे आकर्षण एवं सौंदर्य को ढूंढने के लिए किया जाए जिसे साधारणतया लोग अनुभव नहीं करते । विश्व का यह विशेष अंग ही इस प्रयोग में माध्यम है । प्रयोग का उद्देश्य या लक्ष्य ऐसे सौंदर्य की स्वर्गीय अभिव्यक्ति है जो दूसरों की दृष्टि से छिपा हुआ उसमें निहित हो । और इस प्रयोग के लिए उपयुक्त उपाय "संतुष्टिप्रद संगठन" का है, यानी ऐसे संगठन का जो यथा-नियम तथा ताल, व्यतिरेक, अन्तरा आदि के अनुसार हो । मैंने उपरिलिखित व्याख्या में 'स्वर्गीय अभिव्यक्ति' शब्द का प्रयोग किया है । कहीं इससे पाठकों को किसी रहस्यमय तत्व का भ्रम न हो जाए, इसलिए मैं यह कह देना चाहता हूं कि सौंदर्यनिष्ठ प्रवृत्ति संवेदना ज्ञान (Perception) या ज्यादा ठीक अर्थ में सम्यक् ज्ञान (Apperception) से साम्य रखती है। अब आप इसका विचार निर्माण से भी अन्तर जान सकते हैं, क्योंकि ऊपर मैंने जिस विभाजन या विश्लेषण का प्रयत्न किया है उससे इस धारणा का भ्रम होना सम्भव है कि सौंदर्य प्रवृत्ति का काम विचार निर्माण से सादृश्य रखता है । जब सब सौंदर्य-निर्माण के भीतर की प्रवृत्ति वही है तो परिणाम की श्रेष्ठता के मापदण्ड पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं। इसका उत्तर तो महान एकक सम्बन्धी प्रक्रिया (higher unit mechanism) की धारणा द्वारा, जिससे अध्ययन के मनोविज्ञान ने हमें परिचित करा दिया है, आसानी से ढूंढा जा सकता है । जिस माध्यम में, यानी विश्व के जिस अंग को लेकर कलाकार काम करता है, उसमें और पत्थर, तेल, रंग आदि उसके साधनों में भेद करने की असमर्थता तो केवल आंखों की ज्यादती के कारण हो सकती है । इसी दृष्टिदोष के कारण ही सौंदर्यशास्त्र की बहुत सी समस्याएं अस्पष्ट और दुर्बोध्य हो गई हैं । आजकल जो मूर्तिमत्ता (Embodiment) और संचारण (Communication) को विशिष्ट महत्व देने का फैशन हो गया है, वह भी इसके कारण है, और हाल में ही कला के भौतिक साधनों को झूठा महत्व दिया जाने लगा है।

Dr. Bosanquet ने भी माध्यम की धारणा का पूरी तरह से विश्लेषण नहीं किया, इसलिए उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला : "The difference of the great arts then are simply such differences as those between clay-modelling, wood-carving and wrought-iron work developed on an enormous scale."[1]

क्षमा कीजिए, यह विभक्तिकरण का गलत प्रनियम है क्योंकि प्रयुक्त सामग्री या भौतिक पदार्थों की महत्वहीन विभिन्नताओं पर आधारित है। विभिन्न कलाओं का वास्तविक भेद या पृथक्करण का आधार तो उनके माध्यम, यानी पार्थिव जगत् के जिस अंग की वह अभिव्यक्ति या प्रकाश करते हैं, ही हो सकते हैं। दूसरे शब्दों में ठीक प्रकार का वर्गीकरण तो, जो इन्द्रियां उस कला के अभिमूल्यन में लगी हुई हों उनके विमर्श से शुरू होता है। प्रयुक्त पदार्थ क्या है, पत्थर है या मिट्टी; तेल है या पानी में मिला रंग, सारंगी है या पियानो—कलाकार को इन सब बातों का विचार कर तदनुसार अपनी प्रविधि का उपयोजन ज़रूर करना होगा। परन्तु कलाकार के काम का न तो यह महत्वपूर्ण और न बहुत कठिन ही भाग है—बशर्ते वह विश्व के उस विशेष अंग में जो उसकी कला का चुना हुआ क्षेत्र है, सर्वोपरि आनन्द से प्रेरित हो और विधिवत् संगठन के प्रनियमों के अनुकूल काम करे। केवल वही लोग जो कलाकार नहीं या जिन्होंने इस विषय पर गंभीरता से विचार नहीं किया, प्रयुक्त सामग्री के चक्कर में फंस जाते हैं। एक सच्चे कलाकार ने लिखा है :

"But good or bad concrete is not the only material even in an industrial world. I have

---

१. महान् कलाओं में भेद केवल वही भेद है जो मिट्टी की प्रतिमाओं, लकड़ी की नक्काशी और कान्ति लोहे के काम में होता है, यदि उन्हें बड़े पैमाने पर विकसित कर दिया जाए।

done carvings in concrete and am willing to do as many more as I am asked for. But stone, whether natural or artificial, and wood and all kinds of material are available. I do not carve in stone for aesthetic or sentimental reasons but simply because that is the material ordered by my customers."[1]

कहने का मतलब यह है कि यदि नक्काश की भावनायें ठीक हों तो फिर सामग्री क्या है, इस बात का महत्व नहीं रहता। सौंदर्यनिष्ठ भावना तो इन्द्रियजनित गुण से उत्पन्न, पर उसके अर्थों से नितान्त स्वतन्त्र भावना है। नक्काश के लिए वह गुण है एक रेखा—दृष्टिगत ठोसता से विभिन्न स्पर्शसंवेद्य घनता। इस चेतनठोसता तथा रेखा की यह संवेद्य-घनता दे दी जाए, फिर नकाश के साधन, नक्काशी की सामग्री, को जैसा मन चाहे बदल दें। तब तो केवल प्रविधि की समस्या बाकी रह जाती है। यह बात भारतीय कारीगरों के इतिहास से स्पष्ट है। अशोक-कालीन मूर्ति-कला का वर्णन करते हुए Vincent Smith ने लिखा है:

"Many details (of the Asokan sculpture) indicate that the artist in stone followed the example set by his fellow craftsmen in wood and ivory. Indeed ordinary Indian usage

---

१. अच्छा हो या बुरा, औद्योगिक जगत में भी केवल संघा ही एक-मात्र द्रव्य नहीं। मैंने संघा में नक्काशी की है और जितनी कहिए करने को तैय्यार हूं। परन्तु नैसर्गिक हों या कृत्रिम, लकड़ी तथा और सब तरह की धातुएं भी प्राप्त हैं। और मैं सौंदर्यनिष्ठ या भावनात्मक कारणों से पत्थर में नक्काशी नहीं करता, बल्कि इसलिए कि वह द्रव्य मेरे ग्राहकों के लिए प्राप्य हैं या उनके द्वारा खरीदे गए हैं।

seems to have favoured the exercise of his skill by a carver in any material that came to his hand. If Asoka insisted, as he did, on his statuary and reliefs being executed in enduring stone, he was able to utilise the services of skilled Indian workmen accustomed to work in more perishable materials, who were clever enough to adapt their technique to the permanent medium."[1]

इटालियन कला की जो दूसरी quadrennial प्रदर्शनी रोम में हुई, उस पर टीका करते हुए Popolo d'Italia के पाँच फरवरी १६३६ के अंक में Raffaele Calzini ने प्रसिद्ध इटालियन मूर्ति-कलाकार Arturo Martini की ओर संकेत किया है और कहा है :

"Tempo fa Arturo Martini mi esprimeva il desiderio di fondere nel vetro il suo monumento ad Ippolito Nievo."[2]

---

१. अशोककालीन मूर्तिकला की कई बारीकियों से यह प्रकट होता है कि पत्थर में काम करने वालों ने लकड़ी और हाथी दांत में काम करने वाले अपने साथी कारीगरों के तरीकों को अपनाया है। असल में साधारण भारतीय पद्धति में यह बुरा नहीं समझा जाता था कि नक्काश के सामने जो कुछ भी सामग्री रख दी जाए वह उन्हीं के ऊपर अपनी कारीगरी दिखाए। अशोक ने अपनी नक्काशी और मूर्तियाँ पक्के पत्थरों में गढ़वाने पर जोर दिया। पर इस काम को वह नष्टप्राय पदार्थों पर काम करने के अभ्यस्त कारीगरों से करवा सका, क्योंकि वह कलाकार अपनी प्रविधि को स्थायी माध्यम के अनुकूल बनाने की योग्यता रखते थे।

२. अर्थात् कुछ दिन हुए आर्तु रो मार्तीनि ने मुझे बताया था कि वह अपनी इप्पोलीता निरावा की शिल्पकृति शीशे में बनाना चाहता था।

इसी प्रकार Boticelli भी अपनी सोने में नक्काशी करने की शैली को चित्रकला में प्रयुक्त कर सका। और इसी प्रकार प्रायः संगीत निर्माताओं ने गायन और वाद्य संगीत की श्रवण सम्बन्धी प्रतिमाओं को सहायता के स्थान पर बाधा पाया है।

मैं सिद्ध यह करना चाहता हूं कि जीविका उपार्जन करने की आवश्यकता, अतः बाज़ार की मांग, कलाकार की बुद्धि के अन्य पूर्वग्रहण (Prepossessions), और प्राप्त औज़ारों की किस्म आदि की तरह साधन सामग्री, ऐसे अन्य असंगत अंगों में से है जिनके बारे में कलाकार को यह ध्यान रखना पड़ेगा कि वह अपनी कला को उनके अन्तर्गत न होने दे। संगत अंग तो केवल एक ही हो सकता है। आकृतियाँ ऐसी भी हो सकती हैं जो मिट्टी में ही उतारी जा सकती हों और पत्थर में नहीं। पर यह बात तर्क के रूप में प्रस्तुत नहीं की जा सकती। यह तो वैसा ही महत्वहीन तर्क होगा जैसा कि यह कहना कि पत्थर की मूर्ति नाच नहीं सकती। असंगत अशक्यताओं में रखने पर संगत गुणों का क्षेत्र विस्तृत नहीं किया जा सकता; न साधन को माध्यम का पर्याय बनाया जा सकता है। असंगत अंग में दिलचस्पी कलाकार को भी हो सकती है और साधारण लोगों को भी। परन्तु अपने माध्यम में यानी विश्व के उस विशेष अंग में जो वह क्षेत्र है जिसमें उसकी कला की गति है, सीमारहित, निर्मल आनन्द ही, उसे और केवल उसे कलाकार, चित्रकार, मूर्तिकार या गायक बनाता है।

यह अच्छी तरह से समझ लेना कि माध्यम पार्थिव जगत् का इन्द्रियों द्वारा अनुभूत अंग है और अपने आप ही महत्वपूर्ण है, तथा उसमें ज्ञान और अर्थ से कुछ अभिप्रेत नहीं, सौंदर्यशास्त्र को वैज्ञानिक आधार पर रखने की ओर पहला कदम है। चूँकि विश्व के सब अंग इन्द्रियों द्वारा अनुभव किए जाते हैं, इसलिए जितनी इन्द्रियां हैं उतने ही अंग होंगे। सो प्रत्येक इन्द्रिय के अनुरूप एक कला भी होगी। तथा अपनी शुद्धता अथवा निर्माल्य के अनुसार कलाओं के विभिन्न क्रम

होंगे। और कलाओं का निर्माल्य इन्द्रियों द्वारा बोधित अंगों की गणना पर निर्भर होगा। जितनी इनकी बहुतायत होगी, उतनी ही कला में निर्माल्य की न्यूनता रहेगी। इसका कारण यह हो सकता है कि मानसिक शक्ति एक अंग से दूसरे अंग में, और दूसरे से तीसरे में, इस प्रकार बंट जाने पर उदप्रवेधन नहीं कर पाती, अर्थात् किसी भी अंग को सम्पूर्ण रूप से ग्रहण करने में असमर्थ रहती है। दो अंगों पर एक साथ ध्यान देने से किसी एक की भी विशिष्टता अच्छी तरह समझी नहीं जा सकती। एक का भी पूर्ण आनन्द उठाया नहीं जा सकता, क्योंकि दूसरा विचलित कर देता है। सर्वाधिक आनन्द तो तभी मिल सकता है जब व्यक्ति की मानसिक शक्ति का न्यूनाधिक न होने वाला अंश एक ही इन्द्रिय द्वारा अनुभव प्राप्ति में दत्त हो जाए।

इस प्रकार ललित कलाओं का नया तथा अधिक वैज्ञानिक क्रम निकाला जा सकता है जिसमें संगीत सबसे ऊपर और सबसे नीचे कविता होगी। महान् कवियों को यह बुरा लगेगा क्योंकि कलाओं में उन्होंने अनधिकारपूर्ण प्रधान स्थान को हथिया लिया है। परन्तु कला के अभि-मूल्यन के प्रनियमों को नष्ट एवं दूषित करने में उनका परोक्ष या अपरोक्ष रूप में इतना हाथ है कि अन्त में अब न्याय उन्हें दण्ड दे तो किसी को शिकायत करने का भी हक न होना चाहिए।

: २ :

कविता और सौंदर्यशास्त्र का सिद्धांत

सौंदर्यशास्त्र की विभिन्न समस्याओं पर विचार करने और कला-विवेचकों तथा सौंदर्यशास्त्र के दार्शनिकों की रचनाओं द्वारा उनको समझने का प्रयत्न करने वाला कोई व्यक्ति उस गड़बड़ को नोटिस किये बिना नहीं रह सकता जो कविता को अन्य ललित कलाओं के समान समझने के कारण सौंदर्यशास्त्र में आ गई है। यह धारणा और उसके परिणामस्वरूप सौंदर्यशास्त्र की समस्याओं के विश्लेषण, मनन तथा व्याख्या में कविता को प्रतिनिधि कला (Ars Poetica) मानने का प्रलोभन जिन कारणों से उत्पन्न होता है उन्हें पहचानना कठिन नहीं।

कविता में शब्दों का प्रयोग भावनात्मक अर्थों को व्यक्त करने के साधन के रूप में किया जाता है। प्राणी के अस्तित्व के लिए यह परमावश्यक है कि वह भावनात्मक अर्थों को पूर्णतया समझ सके। यदि चेतन जीव इन अर्थों को ठीक तरह से न समझ पाए या उसकी इनके बारे में शीघ्र एवं अनुकूल प्रतिक्रिया न हो तो वह अस्तित्व के लिए निरन्तर संघर्ष में न तो अपने को बचा सकता है, और न अपनी जाति को ही जीवित रख सकता है। कविता से इस प्रगति को सहायता मिलती है और इसी कारण कविता का आकर्षण स्वाभाविक है। तभी तो मानवों की कविता में दिलचस्पी सदैव और बहुत रहती है। अधिकांश मनुष्य जिस तरह कविता की ओर आकर्षित होते हैं और कविता में दिलचस्पी लेते हैं, उसी प्रकार कला-समीक्षक और सौंदर्यशास्त्र के दार्शनिक भी इसके आकर्षण से नहीं बच पाते, और मानवतावाद से प्रभावित होकर

सौंदर्यशास्त्र की समस्याओं के विश्लेषणों की व्याख्या करते समय प्रायः सदैव कविता का ही आश्रय लेते हैं। दूसरी बात यह है कि तर्क, विशेषकर सौंदर्यसंबंधी तर्क, शब्दों द्वारा ही हो सकता है। इसलिए जिन लोगों का शब्दों पर विशेष अधिकार रहता है, वह अपनी आवाज़ के ज़ोर तथा शाब्दिक अभिव्यक्ति के सौंदर्य से लोगों को इस प्रकार मुग्ध कर देते हैं कि उनके मत को बिना किसी प्रतिवाद के स्वीकार कर लिया जाता है।

इस प्रकार मोहित करने वाले सौंदर्यशास्त्र के प्रमुख व्यवसायी कवि हैं। असाहित्यिक कलाकृति के विषय में अपनी प्रतिक्रिया जता कर, या सौंदर्यशास्त्र के सूत्रों की रचना करके, इन लोगों ने इस काल्पनिक धारणा को कि कविता भी चित्रकला आदि ललित कलाओं की समकक्ष कोटि की कला है, जो केवल आकर्षक संदेहमात्र थी, प्रामाणिक निश्चितता का रूप दे दिया है। और तुर्रा यह कि वे यह दोनों बातें उन काव्यमय अनुभवों के सहारे ही कर सकते हैं जिनका सौंदर्यभावना के अनुभवों से कोई सादृश्य नहीं।

कविता के प्रति मानवजाति का पक्षपात आम है। और कविता को आदर्श ललित कला मानने की प्रवृत्ति भी स्वाभाविक है। साधारण लोग इस बात को स्वीकार नहीं करते कि ललित कलाओं का भी उनके महत्व के अनुसार क्रम है। ऐसी धारणाओं को सब से अधिक दार्शनिक प्रोत्साहन Benedetto Croce के अन्तर्शान सम्बन्धी (intuitional) सौंदर्यशास्त्र से मिला है। "समालोचना के जिस आदर्श" (Pattern of Criticism)—यह Eliot के सुन्दर शब्द हैं—का प्रारम्भ या स्थापना Croce के सौंदर्यशास्त्र ने किया, उसका यह अभिप्रायपूर्ण लक्षण है कि Encyclopaedia Britannica की सब से नई आवृत्ति में Croce का सौंदर्यशास्त्र पर लेख भी एक कविता से प्रारम्भ होता है। कविता Virgil से उद्धृत अंश है और Croce के लेख के दूसरे पैराग्राफ का पहला वाक्य यूं है :

"What has been said of 'poetry' applies

to all other "arts" commonly enumerated; painting sculpture, architecture, music."[1]

Croce से पहले की कला-समीक्षा असंबंधित तथा विभिन्न दशाओं में विभक्त थी। उसमें भिन्न-भिन्न कलाओं की अलग-अलग प्रकार से चर्चा थी। इस कारण उसकी प्रतिक्रिया के रूप में, विभिन्न ललित कलाओं के मुकाबले में, तथा उनसे बढ़ा चढ़ा कर, Croce का व्यापक और साधारण कला के स्वरूप की आदर्श धारणा की स्थापना करना शायद आवश्यक एवं सामयिक दोनों ही था। पर जब तक तर्कयुक्त विश्लेषण द्वारा इस धारणा की वास्तविक सीमा का निर्धारण न हो जाय, यह बात ज़रा संदिग्ध है कि सौंदर्यशास्त्र सम्बंधी समस्याओं के अन्वेषण के लिए इसकी सैद्धांतिक मापयन्त्र के रूप में उपादेयता कितनी है। क्योंकि जिस उद्देश्य के लिए इसका अन्य विषयों से संबंध है, उनसे पृथक् करने पर व्यक्ति फिर सौंदर्यशास्त्र सम्बंधी भ्रमों में फंस जाता है। तब उसको ऐसा भास होने लगता है कि सौंदर्यशास्त्र सम्बंधी सिद्धान्तों और सौंदर्य-निष्ठ समस्याओं के विभिन्न रूपों के स्पष्टीकरण के लिए सब कलायें समान रूप से उपयोगी हैं। यानी कविता चित्रकला से किसी बात में भी कम नहीं और न संगीत ही इनसे किसी अंश में बढ़ कर है। मैं इस बात का अपवाद नहीं करता कि सब ललित कलाओं में कुछ न कुछ समानता अवश्य है। मुझे तो केवल यह मानने से इन्कार है कि विशेष प्रयोजन तथा दार्शनिक अथवा वैयक्तिक भावनाओं के पक्षपात से किया गया पृथक्करण सौंदर्यशास्त्र के सारे क्षेत्र के लिए न्याययुक्त ठहराया जा सकता है, या ऐसे परमोच्च सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया जा सकता है जिससे किसी प्रकार का भी अनुमान निकाल लेना उचित हो।

---

१. जो कविता के विषय में कहा गया है वह चित्रकला, मूर्त्तिकला, संगीतकला आदि सब तथाकथित ललित कलाओं के विषय में भी सत्य है।

Croce के सौंदर्यशास्त्र को हम "L'estetica dell' una Parola"[1] उसी प्रकार बिना अनादर के कह सकते हैं जिस प्रकार उसके दर्शन का Gentile ने "la filosofia delle quattro parole"[2] कह कर वर्णन किया है। और Croce के सौंदर्यसिद्धांत में यह ही गलती है कि एक संकुचित क्षेत्र में न्याय्य धारणा को वह ज्यादा विस्तृत क्षेत्र में भी न्याययुक्त समझता है।

मानव जीवन को सब से अधिक महत्वपूर्ण समझने तथा उसका विस्तार करने में सहायक भावनाओं को परमविशिष्ट समझने की प्रवृत्ति को काव्यमय उक्तियों द्वारा प्रोत्साहन और दर्शन द्वारा समर्थन प्राप्त हुआ है। पर इसके कारण तथा कविता को Ars Artis ('सर्वोच्च कला') मानने के मत ने सौंदर्यशास्त्र के सिद्धान्तों में कई गलत परिणामों की सृष्टि कर दी है। प्रत्येक व्यक्ति कविता को कुछ अंश तक समझता है। कम से कम वह ऐसा सोचता है। कारण यह है कि कविता के साधन उसके साधन हैं और उसके अनुभवों में तथा कवि के अनुभवों में विशेष अन्तर नहीं होता। भेद केवल इतना ही है कि कवि के अनुभव अधिक परिपूर्ण और कम क्षीण होते हैं। इससे ज्यादा कोई मूलभूत भेद आम लोगों के और कवि के अनुभवों में नहीं होता है। इसके अतिरिक्त कविता और अन्य ललित कलाओं में एक प्रत्यक्ष समानता भी है। संकुचित अर्थों में दोनों ही निरुपयोगी हैं। सो इन दोनों बातों के कारण समग्र कलात्मक कृति और प्रत्येक सौंदर्यनिष्ठ प्रवृत्ति को साहित्यिकों की भाषा में समझने का प्रलोभन ज़बर्दस्त होगा, यह तो स्पष्ट ही है। इस प्रकार का निर्विवचन बहुत सुगमता के साथ किया जा सकता है, और उससे कृत्रिम, अनायास तथा सहज-सुलभ आनन्द मिलने की भी सम्भावना रहती है। सो यह प्रलोभन शीघ्र ही मन का स्थिर स्वभाव बन जाता है।

---

१. एक शब्दाश्रयी सौंदर्यशास्त्र

२. चार शब्दाश्रयी दर्शन

इससे इन्कार नहीं कि कविता एक ललित कला है। तर्क केवल यह है कि वह अन्य ललित कलाओं की कोटि की नहीं । सो जहां तक कविता एक ललित कला है, यानी जिस मात्रा तक कविता से काव्यमय, सौंदर्य-भावनाहीन आनन्द के स्थान पर सौंदर्यनिष्ठ आनन्द होता है, इसकी कृतियाँ एवं प्रवृत्तियां निश्चय ही कलात्मक कृतियों और सौंदर्यनिष्ठ प्रवृत्तियों के समान होंगी। सौंदर्यभावनाहीन से मेरा तात्पर्य उन भावनाओं से है जो अन्तिम विश्लेषण में परोक्ष या अपरोक्ष रूप में साधक हों। सारांश यह कि कलात्मक कृतियों का काव्यमय कृतियों में निर्विवचन करने में कोई असंगतता नहीं। परन्तु इस प्रकार के निर्विवचन का प्रयत्न करने से पहिले यह परमावश्यक है कि साहित्यिक कृतियों और प्रवृत्तियों का अच्छी तरह से विश्लेषण कर लिया जाय और उनके गुणों को भी जांच लिया जाय।

तदनन्तर इनके गुणों का बराबर की सौंदर्यनिष्ठ कृतियों और प्रवृत्तियों के अनुरूप गुणों से समीकरण करना होगा। गलती पहले या दूसरे आयास में यानी विश्लेषण या समीकरण में कहीं भी हो सकती है। कभी तो प्रारम्भिक विश्लेषण में ही त्रुटियां रह जाती हैं, और या एक प्रकार की प्रवृत्ति के गुण को दूसरे समूह की प्रवृत्ति के गुण के सामने टिकाने में शिथिलता आ जाती है, अगर दोनों प्रवृत्तियां अनुरूप या सदृश न हों तो।

इन दोनों कारणों से प्रायः बहुत कुछ असत्य सिद्धान्तों तथा दोष-पूर्ण सौंदर्यनिष्ठ व्याख्या की सृष्टि हो जाती है। संदिग्ध भाषा में कविता की यह धारणा और काव्यमय व्याख्या का इस प्रकार असंगत विस्तार सौंदर्यशास्त्र के सिद्धान्तों के लिए अभिशाप सिद्ध हुआ है और अन्य ललित कलाओं के उचित तथा पूर्ण अभिमूल्यन के मार्ग में स्थायी बाधा रहा है।

साहित्यिक प्रवृत्ति और कृति के वर्तमान विश्लेषण में संदिग्धता कहां

आ जाती हैं और इसके गुणों का सौंदर्यनिष्ठ प्रवृत्ति के गुणों से समीकरण करते समय जो त्रुटि आ जाती है उसकी प्रकृति कैसी है—यह सब जानने के लिए इन प्रवृत्तियों के मध्यस्थित गुण यानी कविता के माध्यम की प्रकृति की परीक्षा करना ही सब से बड़ा उपाय है।

अन्य ललित कलाओं की तरह कविता के विषय में भी यह लागू होता है कि उसके अभिमूल्यन का प्रारम्भ ही तभी हो सकता है यदि उसके माध्यम की प्रकृति को ठीक तरह से समझ लिया जाए। एक तर्क-पूर्ण सौंदर्यशास्त्र में यह गुण अवश्य होना चाहिए। असल में माध्यम की परख तो सौंदर्यशास्त्र के शास्त्र ही कहलाने की प्रथम शर्त है। यदि ललित कलाओं के माध्यम की विशिष्ट प्रकृति को अच्छी तरह से समझ लिया जाय तो विवेचना के समय यह आसानी से जाना जा सकता है कि कौन सी बात आवश्यक और संगत है। जिस तरह सूप के द्वारा अन्न के दानों से भूसे को अलग कर दिया जाता है, उसी प्रकार माध्यम का ज्ञान अनावश्यक तथा असंगत बातों को छांट डालता है।

सौंदर्य सम्बन्धी सिद्धान्तों के विषय में जो गलतफहमियां तथा परस्पर विरोधी धारणाएं प्रचलित हैं, उनका एकमात्र कारण यही होता है कि कविता के माध्यम की धारणा की व्याख्या ठीक तरह से नहीं हो सकी। यदि इस धारणा के बारे में गलती हो जाय या कला के माध्यम को ही साफ़-साफ़ पहचाना न जा सके तो वह सब गलतियां होना निश्चय है जो आजकल आम हो रही हैं। आप इस आनन्दजनक मोह या भ्रम में रहेंगे कि अमुक चीज़ का अभिमूल्यन कर रहे हैं जबकि असल में आप तारीफ़ किसी और ही वस्तु की कर रहे होंगे। आप सौंदर्यशास्त्र के सूत्रों की रचना करने में ही लगे रहेंगे, पर समझेंगे कि बहुत उत्कृष्ट कोटि की कलाविवेचना कर रहे हैं। सुन्दर शब्दों की यद्यपि विशेष उपादेयता समझी नहीं जाती फिर भी उनके द्वारा झूठे विश्लेषण के काफ़ी अंश, नकली आनन्द और गलत तरह के उत्साह पर तो परदा डाला जा सकता है।

यह हो सकता है कि उपरिलिखित प्रकरणों में दूसरों की गलती पकड़ता पकड़ता मैं स्वयं भी वैसी ही भूल कर बैठा होऊं। और यह अधिक सम्भव है कि आप सोचने लग जायं कि मैं क्या तिल का ताड़ बना रहा हूं। क्योंकि कविता का माध्यम क्या है, इस प्रश्न को सुलझाने के लिए किसी महान दार्शनिक की आवश्यकता नहीं। उत्तर बिल्कुल आसान है: शब्द। सौभाग्यवश सिर्फ़ "शब्द, शब्द, शब्द" नहीं जैसा कि Hamlet ने कहा था।

परन्तु असल में मामला इतना आसान नहीं और यहां प्रमाणस्वरूप एक दार्शनिक की उक्ति उद्धृत करना असंगत न होगा। Dr. Spearman जैसे समझदार वैज्ञानिक, विचारक और स्पष्ट-बुद्धि वाले दार्शनिक ने अपनी पुस्तक The Creative Mind के ८८वें पृष्ठ पर निम्नलिखित वाक्य लिखा है:

"And as the former (painter) employs for the purpose (representation of the physical world outside him) the medium of pigments, so the latter (the literary artist) uses words and phrases."[1]

इसके बाद अगले प्रकरण में ही वह लिखता है:

"The beauty sought by the painter is in the main that of his medium."[2]

---

१. जिस प्रकार चित्रकार अपने उद्देश्य (अपने से बाहर के पार्थिव जगत् के चित्रण) के लिए रंगद्रव्यों के माध्यम का प्रयोग करता है, उसी प्रकार साहित्यिक कलाकार शब्द और वाक्यों का इस्तेमाल करता है।

२. चित्रकार जिस सौंदर्य को ढूंढता है वह मुख्य रूप में उसके माध्यम का ही है।

इसका स्पष्ट निष्कर्ष यह है कि चित्रकार और साहित्यिक कलाकार के उद्देश्य विभिन्न हैं। उन दो प्राक्कथनों को सामने रखकर देखना ही काफी है, फिर किसी व्याख्या की ज़रूरत नहीं। झट पता चल जायगा कि उत्कृष्ट विश्लेषक द्वारा किया गया विश्लेषण भी कितनी भूलों का मूल बन जाता है, यदि वह विश्लेषण ऊपरी मन से असावधानी से किया गया हो और विषय की गहराई तक न पहुंचा हो। यदि Dr. Spearman ने चित्रकला और साहित्य-कला के विश्लेषण का गहरा मनन किया होता तो सौंदर्यशास्त्र के सिद्धान्त के सत्य के ज्यादा निकट तक पहुंचते और इस बात का अनुभव करते कि चित्रकला और कविता सहित सब कलाओं का उद्देश्य एक ही है। यह उद्देश्य है उनके विभिन्न माध्यमों के सौंदर्य की अभिव्यक्ति। विभिन्न कलाओं में जो कुछ भी भेद है वह केवल उनके माध्यमों का भेद है। यह कहना ठीक नहीं कि चित्रकार अपने माध्यम के सौंदर्य को ढूंढता है और कवि तथा कलाकार किसी अन्य वस्तु के सौंदर्य को।

Dr. Spearman की इस पुस्तक को छपे कुछ ही वर्ष हुए हैं। तब भी इसके बाद की छपी एक पुस्तक को लीजिए। कविता की विवेचना करते हुए Prof. Abercrombie ने लिखा है :

"The inspiration is the poem, something self-contained and self-sufficient, a complete and entire whole."[1]

इस पर अपनी पुस्तक Art as Experience के एक पृष्ठ के नीचे टिप्पणी में Prof. Dewey ने एक महत्वपूर्ण प्रश्न पूछा है :

"If it is already self-sufficient and self-con-

---

१. प्रेरणा ही कविता है और वह स्वयं परिपूर्ण, आत्मनिर्भर तथा समग्र है।

tained, why does it seek and find words as a medium of expression ?"[1]

और Dewey का खयाल है कि उसका प्रश्न बिलकुल मर्मग्राही है। अब अगर हम माध्यम को यानी शब्दों की प्रकृति को ध्यान में रख कर गौर करें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि जो प्रश्न पूछा गया है वह उतना ही निरर्थक है जितना कि कागज़, कलम और स्याही के बारे में पूछा गया उस प्रकार का प्रश्न होगा। सो इस विषय में और अधिक दृष्टान्त देने की आवश्यकता नहीं।

अब कविता के माध्यम यानी शब्दों की प्रकृति की संक्षेप में परीक्षा कर ली जाए। शब्द के मुख्य रूप में दो अंग होते हैं: (क) संवेदनात्मक (Sensational) और आशयात्मक (Intentional)। प्रथम अंग के रूप में शब्द ध्वनि का विषय, श्रवण सम्बन्धी चेतनाओं का मिश्रण और स्वरों तथा व्यंजनों का समुदाय है। परन्तु भाषा में ध्वनियों का अपना विशेष महत्त्व नहीं। उनकी महत्ता केवल इस बात में है कि वह किसी और वस्तु के लिए प्रतीक का काम देती हैं। यह आशय सम्बन्धी अंग ही उन स्वरों और व्यंजनों के उस विशिष्ट मिश्रण का एकमात्र समर्थन है। भाषा का प्रादुर्भाव इसलिए हुआ कि मनुष्य को दूसरों तक संदेश पहुंचाने की आवश्यकता होती है और भाषा से इस कार्य में काफ़ी सुगमता होती है। भाषा का निर्माण इसलिए किया गया है कि मनुष्यों के पारस्परिक सम्पर्क को ज्यादा अच्छी तरह चलाया जा सके। इसके अतिरिक्त भाषा, नित्यप्रति बढ़ते जाने वाले विचारों की आसानी से काम चलाने की सतत माँग को पूरा करती है।

अर्थ का उद्विकास निर्माण सम्बन्धी विचार की प्रवृत्ति है और यह

---

१. यदि प्रेरणा स्वयं परिपूर्ण और आत्मनिर्भर है तो अभिव्यक्ति के लिए शब्दों के माध्यम का सहारा क्यों ढूंढती है ?

विचार सीमित चेतना का कर्म है । यह अर्थ सीमित चेतना की, जिससे वह सीमित है, उसके प्रति प्रतिक्रिया से उत्पन्न होते हैं । और केवल ऐसी सीमित चेतना से ही अर्थ की संगतता और महत्व रहता है। पर यह प्रतिक्रियाएं जितनी अधिक होती जायं, उतनी ही यह अधिक विस्तृत और पेचीदा हो जाती है और इस कारण सीमित चेतना का अपने से निकले अर्थों पर उतना निश्चित रूप से अधिकार नहीं रहता, और उन्हें संभालने में भी उसे अधिक कठिनता और अनिश्चितता होती है। प्रारम्भ की कम विकसित दशाओं में हो सकता है कि सीमित चेतना अर्थों को सम्पूर्णरूप में संभाल सके, परन्तु शीघ्र ही उसे इस ज़रूरत का अनुभव होता है कि कोई सुगम, आसान और संक्षिप्त तरीका मिल सके जिससे वह समाज में प्रचलन के लिए उन अर्थों को इकट्ठा कर रखे । आरभमाण विचार जब अधिक विकसित हो जाता है और व्याख्या की अपेक्षा करने लगता है, तभी शब्दों में उसका रूपान्तर होता है ।

शब्द का संवेदनात्मक या ध्वनिमय अंग आशयात्मक अंग के लिए प्रतीक के रूप में प्रयुक्त होता है, यानी उसके लिए आसानी से समझा जाने वाला वाहन है। इन दोनों अंगों का किसी शब्द में मिश्रण प्रत्येक सीमित चेतना के लिए वरदान भी है और अभिशाप भी। जिस संसार में प्राणी की तरह की सीमित और विभक्त चेतना का अस्तित्व न हो वहां अर्थ भी नहीं होगा । जो चेतना सार्वलौकिक अथवा सम्पूर्ण है, उसके लिए प्रत्येक वस्तु उसका स्वयं का अर्थ होगी और प्रत्येक वस्तु उसका अपना प्रतीक । फिर प्रतीक और सार्थकता का विभाजन एवं मिश्रण असम्भव और अनावश्यक दोनों होगा । सौंदर्यनिष्ठ प्रवृत्ति का साहित्यिक प्रवृत्ति से समीकरण करते समय इस विभाजन और मिश्रण की प्रकृति तथा आवश्यकता को सदैव और पर्याप्त रूप में ध्यान नहीं रखा गया है। भाषा या शब्दों के आशयपूर्ण अंग का भी दो अंगों में विश्लेषण किया जा सकता है। जहां तक अर्थ मानसिक जीवन की यथार्थता है उसके दो पहलू हैं—संज्ञानी और भावनात्मक (Cognitive And affective).

यह तो खैर मनोविज्ञान का सामान्य सिद्धांत है कि दोनों में कोई स्पष्ट रूप से विभाजन नहीं हो सकता । जब किसी को कोई अधिक मौलिक तर्क नहीं सूझता तो वह दूसरों को इसकी याद दिलाते हैं । परन्तु वास्तव में ऐसे अनुभव में जो प्रधानरूप से प्रज्ञीय हो, और भावनात्मक अनुभव में भेद को समझना कठिन नहीं। बौद्धिक विचार और सैद्धांतिक अर्थों की तरह भावनाएं तथा भावनात्मक अर्थ भी रहते हैं । इनमें विभिन्नता यद्यपि बहुत प्रत्यक्ष नहीं, फिर भी आसानी से लक्ष्य की जा सकती है ।

अब हम भावनात्मक अंग की दो प्रतिशाखाओं यानी भावनाओं को दो श्रेणियों या वर्गों में, पहली श्रेणी को 'निरपेक्ष व स्वतन्त्र' और दूसरी को *'सम्भाव्य व आश्रित'* भावनाओं के शीर्षक के अन्दर रख सकते हैं। स्वतन्त्र भावनाएं किसी भी चेतना, आकार, Gestalt और संबंधों के निर्माण के इन्द्रिय-जनित ज्ञान के अति सन्निहित उपकरण हैं । किसी भी इन्द्रियजनित या नियमानुकुल अनुभव के वह आवश्यक सहकारी हैं और किसी ऐसे सांसारिक अनुभव से उत्पन्न नहीं होते जिनके कारण, उदाहरणतया, वृद्ध पुरुषों को युवाओं की अपेक्षा अधिक अनुभवी कहा जाता है। इस भावना को हम 'सौंदर्यनिष्ठ' कह सकते हैं और इस प्रकार इसे दूसरी सम्भाव्य या आश्रित भावनाओं से, जो 'काव्यमय' हैं, अलग कर सकते हैं। वह आश्रित हैं, क्योंकि वह एक विशेष प्रकार के मानवजगत् की निर्माण-व्यवस्था पर निर्भर हैं । वह वातावरण की विशेष मांग के अस्तित्व और स्थायीपन पर आश्रित हैं।

जैसा कि मैंने ऊपर लिखा है, सम्भाव्य या आश्रित भावनाओं का महत्व तभी है यदि इनसे वातावरण के प्रति मानसिक क्रियाएं सुकर हो जाती हों और उनकी अतिजीवितता निश्चित हो जाय । परन्तु यदि वातावरण के बदल जाने के कारण कुछ प्रतिक्रियाओं की आवश्यकता न रहे, तब वह भावनाएं जो इन प्रतिक्रियाओं के लिए सहायक हुई धीरे-धीरे लुप्तप्राय होनी आरम्भ हो जाती हैं और अन्त में बिल्कुल नष्ट हो जाती हैं। उदाहरण के तौर पर शूरवीरता के पुराने ज़माने में स्त्री-पुरुष के पारस्परिक

सम्बन्ध में जिन भावनाओं का स्थान था, आज हमारे समय में उनका कोई मूलभूत कारण नहीं रहा, क्योंकि जिस संसार में नागरिक शांति हो और शारीरिक साहस, मानवसमाज के किसी विशिष्ट अंग का एकमात्र अधिकार न हो, वहां शूरवीरतापूर्ण शिष्टाचार की भावनाएं व्यर्थ हैं। उनका तो केवल सामाजिक शिष्टाचार एवं मर्यादा के लिए या चरित्र की स्वाभाविक शोभा के रूप में महत्व रह गया है। इसी प्रकार जो राष्ट्र सोवियत् आदर्शों पर संगठित हैं, जिन में बूढ़े मां बाप और छोटे बच्चों का ध्यान राष्ट्र करता है, वहां प्रेम की वह भावना जिस पर माता पिता और बच्चों का सम्बन्ध स्थिर है, विलुप्त हो जायगी, क्योंकि ऐसे राष्ट्र में इस भावना की एकमात्र संगतता मिट जायगी। इस प्रकार की विलुप्तता को जिस तरह बुरा माना जाता है, और जिस प्रकार उसके प्रति सदैव अति-क्रोध दरसाया जाता है, उससे तो केवल यह पता चलता है कि मनुष्य का आत्मरक्षक यन्त्र किस तरह काम करता है। अतः इस प्रकार की भावनाओं की आश्रित प्रकृति की धारणा और भी पुष्ट होती है।

माता-पिता के प्रेम और बलिदान तथा अपत्यस्नेह और कर्तव्यशीलता के सौंदर्य की प्रशंसा तथा श्लाघा में लिखे हुए जिन विजयगीतों द्वारा, और भाषा तथा साहित्य-शास्त्र के अलंकारों द्वारा मनुष्य अपना क्रोध और गुस्सा प्रायः प्रकट करते हैं, उससे यह स्पष्ट होता है कि कविता के हित के लिए मनुष्य कितनी आसानी से गलत बौद्धिक स्थितियों के धोखे में आ जाते हैं।

आश्रित भावनाओं को हम 'स्वार्थी' भावनाएं भी कह सकते हैं, क्योंकि उनकी स्थिति केवल उनकी उपादेयता तथा जैविकीय सार्थकता पर निर्भर है। परन्तु सौंदर्यनिष्ठ भावनायें 'निःस्वार्थी' हैं, क्योंकि वह किसी जैविकीय योजना की सहायक नहीं। या ऐसा कहिए कि स्वार्थी भावनायें साधन मात्र हैं, क्योंकि वह उन उद्देश्यों की वृद्धि करती हैं जो उन स्थितियों से बाहर हैं जो इन भावनाओं का अनुभव करती हैं। इसके विपरीत सौंदर्यनिष्ठ भावनायें स्वयं अपना उद्देश्य हैं। जिस क्षण इस

भावना का अनुभव होता है, उसी क्षण उसके उद्देश्य की भी पूर्ति हो जाती है। इस प्रकार उसकी सार्थकता उसके अपने कारण है, किसी बाहरी हेतु से नहीं।

उपरिलिखित तर्क को आकार रूप में इस प्रकार संक्षेप से बताया जा सकता है :
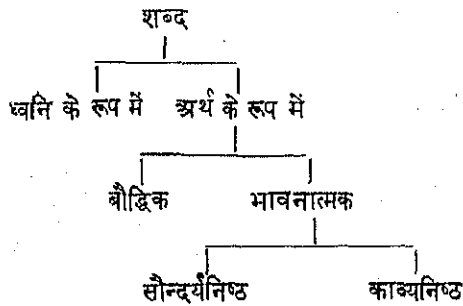
उपरिलिखित विश्लेषण की सहायता से मैं यह सिद्ध करना चाहता हूं कि शब्द, जहां तक कि वह शब्दों और अर्थों दोनों को उपलक्षित करते हैं, कविता का माध्यम नहीं। शब्द तभी कविता का माध्यम कहे जा सकते हैं यदि हम शब्दों का तात्पर्य कविता की तरह का भावात्मक अर्थ समझें। इस कथन को ज़रा कम संदिग्ध रूप में यानी अधिक स्पष्ट करके इस तरह कहा जा सकता है कि भावनात्मक अर्थ ही कविता के माध्यम हैं। इन्हीं अर्थों में कवि अपना काम करता है और यही इसके प्रबन्धन के साधन हैं, ध्वनि या बौद्धिक भाव नहीं। यदि यह कहा जाय कि शब्द ही कविता के माध्यम हैं तो ध्वनि तथा बौद्धिक भावों को तो केवल ज्ञानमय तथ्यों के रूप में बलात् अन्दर घुसेड़ना होगा, और इससे ही तो सौंदर्य शास्त्र के सिद्धान्तों का सत्यानाश हो गया है। कैसे, यह मैं अगले प्रकरण में बताऊंगा। किसी कवि के सामान्य अथवा मध्यमश्रेणी के कवि होने के कारण यह होते हैं कि या तो वह एक कला की रचना करते समय दूसरी कला के माध्यम का प्रयोग करता है, और इस प्रकार जब कि उसे केवल कवि

बने रहने की सोच चाहिए गाय क बनने की चेष्टा करता है, या उसमें बौद्धिक भाव भावनात्मक ज्वाला के लिए ईंधन का काम नहीं देते। इस दूसरे कारण पर अधिक समय ज़ाया करने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए, क्योंकि यह स्वयंसिद्ध है और बहुत थोड़े लोग ऐसे होंगे जो इसको झूठा सिद्ध करने में प्रवृत्त हों।

"Meditate often on these truths that some time or other they may become your feelings."[1]

सो Wordsworth पर लिखे अपने लेख में Sir Walter Raleigh ने कहा है कि सच्चा आध्यात्मिक कवि विचार को अपनी भावनाओं का आधार बनाता है, भावनाओं को विचार का आधार नहीं।

एक ओर Swinburne और Tennyson तथा दूसरी ओर Browning के अभिमूल्यन में जो स्पष्ट परिवर्तन हो गए हैं, उनके बावजूद भी इस धारणा का कि कविता में ध्वनि का विशेष महत्व नहीं, प्रतिवाद किया जायगा। मैं तो स्पष्टतया कह देना चाहता हूँ कि ध्वनि के रूप में ध्वनि का कविता में कोई स्थान नहीं। वह तो संगीत का क्षेत्र है। इस बात को खूब अच्छी तरह समझ लेना चाहिए और कभी नहीं भूलना चाहिए। भावनात्मक अर्थों के वाहन के रूप में ध्वनियों का कविता में केवल लाक्षणिक महत्व है, और वह यथार्थ महत्व नहीं जो उनका संगीत में है। कविता में शब्द की ध्वनि की सार्थकता अथवा संगतता केवल इतनी ही है कि जिस अर्थ के लिए वह रूढ़ि के अनुसार प्रयुक्त की जाती है उसको विकसित करती, बढ़ाती या स्पष्ट करती है। साधारण कोटि के कवियों और निम्न कोटि के समीक्षकों का सब से बड़ा दोष यह है कि

---

१. इन सत्यों पर विचार करते रहो ताकि किसी समय यह तुम्हारी भावनाएं बन जायं।

वह इस नितान्त असंगत अंग को कवितामय प्रभावों में कुछ अंश तक न्याय्य समझने लग जाते हैं, या ऐसे पद्य की प्रशंसा करते हैं जो कम से कम संगीतमय हो। अपने छात्रों के सामने शैले का पक्षसमर्थन करते हुए Sir Arthur Quiller Couch ने कहा था : "As students of poetry and its technique again we shall have something to say, but not so as to convey he was Vox et Præterea nihil; which is for all their polemics the impression which Arnold and Swinburne agree in conveying as to their combined dispraise and praise."[1]

Quiller Couch का सारा निबन्ध वास्तव में कविता की प्रकृति पर बहुत प्रकाश डालता है और यह बताता है कि किस प्रकार साहित्यिक अभिमूल्यन और समीक्षात्मक समालोचना में ध्वनि का अंश, वास्तविक रूप में औपपातिक, रूढ़िबद्ध और स्पष्टतया ही असंगत होने के कारण भ्रम में डाल सकता है।

असल में इस बात की कोई आवश्यकता नहीं कि ध्वनियों के किसी विशिष्ट संयोग से किसी विशेषार्थ की अभिव्यक्ति हो। विभिन्न भाषाओं में और कभी कभी तो एक ही भाषा में ध्वनियों के विभिन्न संयोगों से एक ही अर्थ प्रकट किया जाता है। पर्यायवाची शब्दों को ही ले लीजिए। इसके विपरीत ध्वनियों के वही मिश्रण विभिन्न भाषाओं में,

---

१. कविता और उसकी प्रविधि के विद्यार्थियों के रूप में हमें कुछ कहना है। परन्तु हम यह कहना चाहते कि शैली में संगीत के अतिरिक्त और कुछ नहीं था, हालांकि केवल यही निष्कर्ष Arnold और Swinburne के शास्त्रार्थ से, उनकी मिलीजुली प्रशंसा और निन्दा के बावजूद, निकलता है।

यहां तक कि एक ही भाषा में, विभिन्न अर्थों की भी अभिव्यक्ति कर सकते हैं।

अब देखिए, निम्नलिखित पंक्ति में 'murmur' शब्द की ध्वनि संगत है: "Murmur of flies on summer eve,"[1] क्योंकि अंग्रेज़ी मन में इसकी विशेष सहचारी संवेदना और भावना है। पर वह बिल्कुल वाह्य या आकस्मिक परिस्थितियों पर निर्भर है। केवल स्वरों और व्यंजनों में, जिनसे यह शब्द बना है, ऐसी कोई बात नहीं जिससे यह अर्थ या सम्बन्ध निकालना आवश्यक हो। स्वरों और व्यंजनों का वही मिश्रण शायद मराठी में बिल्कुल ही विभिन्न अर्थ का सूचक हो। उसी प्रकार 'wail' शब्द की ध्वन्यात्मक संवेदना अंग्रेज़ी में तथा भारतीय भाषा मराठी में विभिन्न प्रकार के अनुभवों की द्योतक हो सकती है। भाषा में ध्वनि के स्थान के विषय में उपरिलिखित सिद्धांत को निम्नलिखित दृष्टान्तों से भी सिद्ध किया जा सकता है: फ्रांसीसी 'Paris', इटालियन 'Pari' और उसके सादृश्य मराठी 'पारा'। किसी भी शब्दोच्चारण-शास्त्र की पुस्तक से पाठक बड़ी आसानी से इस तथा दूसरे कथन—कि उसी ध्वनि से एक ही भाषा में विभिन्न अर्थ अभिव्यक्त हो सकते हैं—के कई उदाहरण प्रस्तुत कर सकते हैं।

ध्वनि और अर्थ में यह भिन्नता और कविता में केवल अर्थ की संगतता, यह कविता में ध्वनि और अर्थ की संविदा सम्बन्धी सिद्धान्त का मूल है। कविता के माध्यम की प्रकृति के विषय में गलतफहमी ही आजकल की साधारण प्रशंसा-प्राप्त ध्वन्यात्मक कविता के क्षणिक होने का कारण है। क्योंकि जब कभी कलाकार यानी कवि, जिससे वह काम करता है उसके असंगत अथवा अप्रधान अंश से बहकाया जा कर, अपने माध्यम

---

१. गर्मी की संध्या में मक्खियों का भिनभिनाना।

के प्रति असत्य हो जाय तो वह निश्चय ही अपनी विस्मृति के लिए रास्ता तैयार कर लेता है।

ज़रा ज्यादा ज़ोर से कहा जा सकता है कि ध्वनियां कविता के लिए केवल असंगत और उसके क्षेत्र से बाहर ही नहीं बल्कि ध्वन्यात्मक प्रभाव, यदि वह पर्याप्त रूप में गहन हो तो, उसकी केवल स्वीकृति भी भावनात्मक अर्थों के आदर्श के पूर्वप्रत्यक्षीकरण पर अवलम्बित और आश्रित है। डा० रिचर्ड की पुस्तक "Practical Criticism" के आदि लेख, उनमें निहित विश्लेषण और उनसे निकाले गए छन्दशास्त्र सम्बन्धी निष्कर्ष उपरिलिखित तथ्य की सत्यता का पाठक को विश्वास जताने के लिए काफ़ी होंगे। पहली दो पंक्तियों की ललित पदबन्दी पर उनकी टिप्पणी विशेष अभिप्रायपूर्ण है :

"Margaret ! are you grieving
For golden grove unleafing ?"[1]

जब तक सहचारी संवेदनाओं और भावनाओं के साधन से अथवा अन्य किसी उपाय से ध्वनियों के सौंदर्य का भावनात्मक अर्थों के सौंदर्य में रूपान्तरण न हो जाय, कविता के लिए उसका कोई संज्ञान नहीं। Sound *qua* sound—ध्वनि का केवल ध्वनि के रूप में कविता में कोई स्थान नहीं। कई तुकबन्दीकार Shakespeare और Dante की अपेक्षा अधिक मधुर एवं संगीतमय तुकबन्दियां जोड़ सकते हैं। महाकाव्यनिर्माता कवि गीतों के लिखने वालों से श्रेष्ठ हैं, इसलिए नहीं कि उनकी कविता अधिक संगीतमय है, बल्कि इसलिए कि वह भावनात्मक अर्थों की अधिक विस्तृत, ज्यादा जटिल और साथ ही अधिक संगठित रूप

---

१. मार्गरेट, क्या तुम्हें दुःख हो रहा है कि सुन्दर वृक्षकुंज पत्रहीन हो रहा है ?

से व्यस्थापित सम्पूर्णताओं को प्राप्त करते हैं। यह विचित्र व्याजोक्ति है कि संगीत में जहां ध्वनियां और ध्वनियों के केवल आकार ही सार्थक होते हैं, लोग भावनात्मक अर्थों को ढूंढते हैं ; और कविता में, जहां भावनात्मक अर्थ ही प्रस्तुत किए जाते हैं, वह तब तक चैन नहीं लेते जब तक कि उसमें से संगीत की अन्तिम बूंद को निचोड़ न लें।

ऊपर किये गये विश्लेषण में मौलिकता केवल यही है कि इसमें कविता में शुद्ध ध्वनि के महत्व को पूर्ण, दृढ़ तथा स्पष्ट रूप से अस्वीकार किया गया है। इससे अधिक ज़रूरी बात, सौंदर्यनिष्ठ प्रवृत्ति को साहित्यिक प्रवृत्ति से सम्बन्धित करने में जो स्थानान्तरण हो जाता है, उसे उपरिलिखित विश्लेषण के आधार पर प्रमाणित तथा ठीक रूप से बताना है। सौंदर्यनिष्ठ प्रवृत्ति को संक्षिप्त रूप में इस प्रकार लिखा जा सकता है :

कलाकार : माध्यम : सौंदर्य

अब हम विशेष कलाओं के विशिष्ट निश्चायकों को स्थानापन्न करके देखें। पहले चित्रकला को लीजिए :

कलाकार : माध्यम : सौंदर्य

चित्रकला : संसार का दर्शनीय अंग : सौंदर्य
रंग, रेखा, पुंज आदि

और अब कविता :

कवि : भावनात्मक अर्थ : सौंदर्य

माध्यम का सौंदर्य उसे संगठित करने और प्रनियमानुकूल प्रयुक्त करने में प्रदर्शित होता है। यह भ्रम कि कविता और चित्रकला के उद्देश्य विभिन्न हैं तभी होता है जब दोनों के माध्यमों के विषय में स्पष्ट धारणा न हो। यदि आप कहें, जैसा कि Prof. Spearman ने कहा था, कि रंगद्रव्य ही चित्रकला के माध्यम हैं तो आपको यह भी कहना पड़ेगा कि शब्द

कविता के माध्यम हैं। सो अन्तहीन संदिग्धता और भ्रामकता का क्रम चलता रहेगा। क्योंकि यदि आप एक बार मध्यस्थित पद में असंगत तत्वों को सम्मिलित कर लें तो यह निश्चय करना कठिन होगा कि क्यों या किस सिद्धान्तानुसार एक को ले लेना चाहिए और दूसरे को नहीं।

आप चित्रकला की प्रवृत्ति को इस प्रकार लिखने का प्रयत्न करेंगे :

चित्रकला : रंगद्रव्य : सौंदर्य

और फिर आपकी साहित्य-सम्बन्धी धारणा का रूप इस प्रकार निर्धारित होगा। आपके पहले दो पद हैं :

कवि : शब्द

आप, यह बात बिना सोचे कि अर्थ दूसरे पद में उसी प्रकार निहित है जिस प्रकार सौंदर्य रंग-द्रव्य में नहीं, अर्थ को तीसरे पद के स्थान पर रख देंगे। इसी अनुपात को दूसरी तरह भी बताया जा सकता है। साहित्यिक प्रवृत्ति का आपका सीधा-सादा विश्लेषण इस प्रकार होगा :

कवि : शब्द : अर्थ

सो इसके अनुरूप चित्रकला-सम्बन्धी सौंदर्यनिष्ठ प्रवृत्ति का रूप आप कुछ इस प्रकार समझेंगे :

चित्रकला : रंगद्रव्य : अर्थ

लेकिन यह स्पष्ट है कि इस प्रकार भ्रान्ति दूसरे पद में आ जाती है, क्योंकि दूसरी यानी कलात्मक प्रवृत्ति का 'रंगद्रव्य' पद तो वास्तव में पहली यानी साहित्यिक प्रवृत्ति के दूसरे और तीसरे इन दोनों पदों को मिला करके बराबर है। यदि आप पहिली साहित्यिक प्रवृत्ति में एक पद को दो भागों में विभक्त करते हैं तो दूसरी कलात्मक प्रवृत्ति में भी ऐसा करने के लिए आप नियमबद्ध होंगे। आपको अपनी दोनों प्रवृत्तियों को सूत्ररूप में इस प्रकार रखना चाहिए :

कवि : शब्द : अर्थ : सौंदर्य
चित्रकार : रंगद्रव्य : रंग : सौंदर्य

और यह सूत्ररूप में वर्णन ठीक है। इसमें कोई गलती नहीं। लेकिन आम गलती यह होती है कि जिस प्रकार कविता में प्रयुक्त शब्दों के अर्थों को देखा जाता है, उसी प्रकार लोग चित्रों में रंग का अर्थ ढूंढने लग जाते हैं। पर जिस प्रकार शब्दों का अर्थों के लिए प्रयोग होता है, उसी प्रकार रंगद्रव्यों का रंगों के लिए होता है, रंगों का अर्थों के लिए नहीं। रंग किसी वस्तु की सार्थकता जताने के लिए मनुष्य द्वारा नहीं बनाए गए। आप यह कह सकते हैं कि अर्थ नहीं तो शब्द भी नहीं। पर ऐसा नहीं लिख सकते कि अर्थ नहीं तो रंग भी नहीं। कम से कम इन शब्दों को अच्छी प्रकार समझने वाला तो ऐसा नहीं लिखेगा। 'हरा' इस शब्द का मतलब हरा रंग है। यदि हरेपन की जिस संवेदना का आप आभास देना चाहते हैं उसका अस्तित्व ही न हो तो उस तथ्य को जताने के लिए ध्वनियों के इस विशेष संयोग या मिश्रण का कभी प्रादुर्भाव ही न होगा। परन्तु हरापन या हरे रंग का वैसे कुछ मतलब नहीं निकलता। यह केवल वह रंग है। हम निश्चय ही हरे रंग के साथ कई भावनाओं का समावेश कर लेते हैं, पर वह साथ वृद्धिप्राप्त बाह्य भावनाएं हैं, उसमें निहित भावनाएं नहीं। यदि हम उन सब को भुला दें या पृथक् कर दें, हरा रंग तब भी हरा ही रहेगा। पर यदि हम 'हरा' इस शब्द का सब अर्थ भूल जायं तो स्वरों और व्यंजनों का वह मिश्रण हमारे शब्दकोष में ही नहीं रहेगा।

परन्तु रंगों के विषय में अर्थ अवश्यम्भावी नहीं बल्कि सिर्फ़ सहचारी अंश है। वैसे ध्वनि शब्दों के अर्थ के विषय में केवल सहचारी अंश है। वास्तविक अनुरूपता इस प्रकार नहीं हो सकती :

अर्थ : शब्द : अर्थ : रंग

बल्कि यूं होगी : अर्थ : शब्द : रंग : रंगद्रव्य

आप रंग का अर्थ तभी पूछ सकते हैं अगर अर्थ का भी अर्थ पूछें। जैसे कि—

कलाकार : रंगद्रव्य : रंग　　: अर्थ

कवि : शब्द : अर्थ　: (अर्थों का) अर्थ

यह बिलकुल न्याय्य है, पर तब आम लोगों की नज़र में प्रश्न अर्थ का नहीं रह जाता, प्रत्युत दार्शनिक विश्लेषण का हो जाता है। और उस हालत में संवेदनाओं के मनोविज्ञान की पुस्तक या Ogden और Richard की पुस्तक 'The Meaning of Meaning' का सहारा लेना पड़ेगा।

संक्षेप में :

या अर्थ + अर्थवाहक = शब्द
　रंग + रंगवाहक = रंगद्रव्य
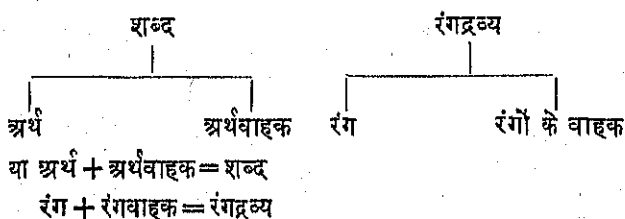
साहित्यिक प्रवृत्ति और कलात्मक प्रवृत्ति का समीकरण करने में जिस स्थानान्तरण का मैंने ऊपर ज़िक्र किया था, उसकी हानिप्रद प्रकृति को समझने के लिए यही दो बातें जान लेना ज़रूरी है। एक तो यह कि चेतनात्मक अंश यानी शब्दों का ध्वन्यात्मक अंश केवल लाक्षणिक महत्व रखता है। और अर्थ का उसी प्रकार वाहन है जिस प्रकार तेल अथवा पेंट रंग के लिए होता है। ध्वनि अर्थ के विषय में और तेल तथा पेंट रंग के विषय में मुख्य प्रयोजन के वाहन मात्र हैं। यद्यपि वाहन के रूप में वह निश्चय ही परमावश्यक हैं फिर भी रचनात्मक प्रवृत्ति के लिए मूलरूप में संगत नहीं।

यहां चित्रकला के विषय में जो कहा गया है वह ललित कलाओं पर लागू होता है। और यदि आप इस 'स्थानान्तरण' से रक्षा कर सकें तो कविता पर आधारित रचनात्मक प्रवृत्ति को सब कलाओं की प्रारूपिक समझ सकते हैं। इससे, प्रदर्शनात्मक और भाववाचक कला के विषय में जो द्वंद्व चल रहा है उसमें फंसने से आप बच जायंगे। फिर आप प्रारंभ में कविता की भावनात्मक शक्ति को मान लेने के कारण न तो सौंदर्यनिष्ठ प्रवृत्ति को गलत तरीके से सोचेंगे और न कविता में अन्तर्गत गुणों के रूप में सौंदर्यनिष्ठ प्रवृत्ति का अन्वय करने का प्रयत्न करेंगे।

कविता की इस प्रकार की स्पष्ट व्याख्या तथा विभिन्न कलाओं के माध्यमों के विश्लेषण से सौंदर्यनिष्ठ सिद्धांतों में एक सूत्रबद्ध एकता आ जायगी, और इससे ऐसे प्रनियमों का प्रादुर्भाव होगा जो कलात्मक कृति के सम्पूर्ण क्षेत्र में बिना किसी अपवाद के लागू हो सकें। इस प्रकार के विश्लेषण के आधार पर ही आप सौंदर्यशास्त्र के विज्ञान की भित्ति को खड़ा कर सकते हैं और विवेचनात्मक समीक्षोक्तियों में से संभ्रमकारी तथा परस्पर विरोधी तत्वों को दूर कर सकते हैं, तथा साहित्य और अन्य कलाओं के अभिमूल्यन में जिस पार्थक्य की कल्पना की जाती है उसे दार्शनिक के हस्तकौशल से नहीं बल्कि उनमें निहित प्रवृत्तियों के सादृश्य के प्रकाशन द्वारा दूर किया जायगा।

परन्तु यह तभी हो सकता है और कविता सौंदर्यशास्त्र के लिए अनर्थ होने से तभी बच सकती है यदि आप कविता की दोहरी भावनात्मक प्रकृति को समझ लें। यानी उन भावनाओं में जो कविता का माध्यम हैं, और उस विशिष्ट, अनन्यरूप सौंदर्यनिष्ठ भावना में जिसको बाकी सब कलाओं की तरह कविता अथवा माध्यमरूप में प्रयुक्त मानवी भावनाओं के संगठन उत्पन्न करते हैं, भेद जानना सीख लें। यह विशिष्ट अनन्यरूप सौंदर्यनिष्ठ भावनायें नियमबद्ध संगठन हैं, यूं ही अव्यवस्थित सपिण्ड नहीं, यह देखने से ही सौंदर्यनिष्ठ भावना की अनुभूति होती है।

: ३ :

आधुनिक काल में कला का अभिमूल्यन

संस्कृति की प्रगति से ललित कलाओं को क्षति पहुंची है या नहीं, यह एक बहुत बड़ा प्रश्न है। कुछ लोगों के अनुसार इस धारणा के हक में विचार्य विषय बना कर प्रस्तुत किया जा सकता है। परन्तु दूसरे लोग एकदम सौंदर्यनिष्ठ दृष्टिकोण आदि की, अपनी घृणा व तिरस्कार को छुपाने का यत्न किए बिना, ठठोली करने लग जायंगे।

इस बात का वास्तविक अर्थ में सही उत्तर तो तभी दिया जा सकता है अगर प्रश्न में प्रयुक्त शब्दों और धारणाओं का विश्लेषण किया जाय। और कला के इतिहास का विस्तृत निरीक्षण भी ज़रूरी है। पर इन दोनों में से कोई भी कार्य मैं इस समय नहीं कर सकूंगा। मुझे तो यह बात निर्विवाद मालूम होती है कि आधुनिक जीवन के कई अंश उत्तम कला की रचना और अभिमूल्यन के लिए अनुकूल नहीं। यन्त्र-युग के प्रति अनिच्छा व घृणा प्रकट करने का जो फैशन हो गया है उससे प्रेरित होकर मैं ऐसा नहीं कहता। क्योंकि मैं तो यह समझता हूं कि कुछ अंशों में यन्त्रयुग एक विलक्षण वरदान भी है और इस बात से आंखें मीच लेना केवल आपका दृष्टिदोष ही होगा। आखिर मशीनों को मनुष्य बनाते हैं, मशीनें मनुष्य नहीं बनातीं। कहने का तात्पर्य यह है कि मानवीय कर्मण्यता, जो निरन्तर पुनर्जीवित होने वाली ऊर्जा का अंश है, सब बाधाओं को दूर करके अन्त में अपने अस्तित्व को पा ही लेती

है । यह बात निश्चय ही ललित कलाओं के क्षेत्र में भी घटित होगी । असल में तो यह होने ही लग गई है । और उन बाधाओं का जिनके अस्तित्व के बारे में अभी तक सम्भवतया शंका भी न हो, बता देना शायद बिल्कुल निरर्थक न होगा।

जैसा कि मैंने कहा है, यह बाधाएं कला की उत्पत्ति और अभिमूल्यन दोनों से सम्बन्ध रखती हैं। यहां मैं उत्पत्ति के विषय में कुछ लिखना नहीं चाहता और अपने को सिर्फ अभिमूल्यन तक ही सीमित रखूंगा । एक बात तो यह कि जिन तत्वों पर अभिमूल्यन निर्भर रहता है वह आसानी से देखे जा सकते हैं, और जो तत्व कला की ठीक व्याख्या में रुकावट होते हैं उनकी असंगतता को कोई भी विचारवान् व्यक्ति समझ या जान सकता है। दूसरी बात यह है कि इस प्रकार अपने दृष्टिकोण का शोधन उपयोगी होता है, क्योंकि वह अपनी लाभदायक प्रतिक्रियाओं के कारण 'सत्य' कला की उत्पत्ति को प्रेरणा देने योग्य अवस्थाएं उत्पन्न करता है । मैं यह नहीं कहता कि मैंने सौंदर्यनिष्ठ विवेचना का बिल्कुल पूरी तरह से विश्लेषण कर दिया है और अब और कुछ बाकी नहीं । हो सकता है कि मेरे निर्णय कुछ लोगों को असंगत जचें और कुछ को कृत्रिम । मैं तो सिर्फ यह कहना चाहता हूं कि यह बातें कला के प्रति हमारे समग्र दृष्टिकोण का मूल हैं और इन्होंने अत्यन्त सारभूत रूप में कला के अभिमूल्यन और सौंदर्यशास्त्र को नष्ट कर दिया है।

अब पहिली बात यह है कि संस्कृति का प्रधान अंग दिन-प्रति-दिन बढ़ने वाले और अधिक जटिल होने वाले संगठन रहे हैं । जिस क्षण आदि-पुरुष ने अपने सामाजिक और धार्मिक जीवन को संगठित करने की सोची, उसी क्षण संस्कृति की नींव पड़ गई। इसके बाद का मनुष्य का इतिहास तो इन विभिन्न संगठनों का इतिहास है । यानी विभिन्न संगठन कैसे प्रकट हुए, धीरे-धीरे परिपक्व या प्रौढ़ हुए, और फिर शनैः शनैः क्षीण हो टुकड़े होकर अपना अस्तित्व खो बैठे; और तब उनका

स्थान लेने के लिए उनसे अधिक पूर्ण तथा चेतन रूप में परिमेय दूसरे संगठनों का प्रादुर्भाव हो गया ! रोमन और यूनानी संस्कृतियों की तरह जिस संस्कृति की सीमा कुछ देर के लिए ही निश्चित की गई हो उसकी स्थिरता उस संगठन करने की प्रकृति को जो उसे अधिक ऊंचे और पद्धतिपूर्ण आदर्शों तक पहुंचाए रखती है, चेतन रूप में आदेशित करने की आवश्यकता को सतत समझने पर निर्भर रहती है। यह संगठन करने की प्रवृत्ति सब प्रकार की मानवी कर्मण्यता—धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि को पुष्ट करती है, और जो कुछ करने में सफल हुई उससे शक्ति प्राप्त करती हुई, भाग्य के कई उलट-फेर देखती, हमारे समय में दो अद्‌भुत वादों—फासिज्म और कम्यूनिज्म—में परिणत हुई है। यद्यपि सरसरी नज़र से देखने पर इनका लक्ष्य राजनीतिक और आर्थिक जान पड़ता है, फिर भी इनसे नये संगठन ध्वनित होते हैं जो केवल राजनीतिक-आर्थिक सीमाओं का लंघन करके सम्पूर्ण मानव जीवन से सम्बन्धित होते हैं और अपनी विस्तृत पद्धतियों या प्रयोगों द्वारा उसका आकार बदलने की आशा करते हैं।

संगठन की धारणा शरीरशास्त्र के लिए भी उपयोगी सिद्ध हुई है, और यह आशा की जाती है कि जहां पशुओं की विशिष्ट प्रकार से वृद्धि का प्रयोग सफल हुआ है वहां मनुष्यों की वैसी वृद्धि भी सफल होगी। आजकल के कई अर्थशास्त्रज्ञों ने इस बात को समझ लिया है कि आर्थिक योजना कितनी आवश्यक है। यद्यपि राष्ट्रसंघ कुछ अंशों में असफल रहा है फिर भी उससे यह बात तो प्रदर्शित हो गई कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में संगठन की कितनी ज़रूरत है। आद्य-समाज सम्बन्धी संगठन का सफलतापूर्वक अनुसंधान मानवशास्त्र में किया गया है। धर्म के ईश्वर-निरूपण और धर्मसंस्था-संचालन सम्बन्धी दोनों अंग ही इस संगठन की कामना करते हैं। संक्षेप में, संगठन ही आधुनिक विचारधारा का सांकेतिक शब्द है।

अब यहां यह अनुमान होता है कि इस मुख्य धारणा से, और वाता-

वरण में इसको ढूंढने या उसपर इसका प्रभाव डालने की प्रवृत्ति से, सौंदर्यनिष्ठ प्रतिक्रियाओं में बाधा पड़ने के स्थान पर सुगमता होगी। क्योंकि कला और कुछ नहीं, केवल किसी विशेष माध्यम उदाहरणतया ध्वनि, रंग, गति आदि की भाषा में अनुभव किया गया प्रनियमानुसार संगठन है। और जब संगठन ढूंढने की प्रवृत्ति पहले से ही मौजूद हो तब इन कला-संगठनों को और भी आसानी से समझा जा सकता है। परन्तु यह स्पष्ट है कि आधुनिक प्रेक्षकों के बारे में यह बात कम ही सही उतरती मालूम होती है। इसका क्या कारण है? कला की कृति को नियमपूर्वक संगठन के रूप में देखने की इस असमर्थता का ठीक कारण ढूंढा जाय तो पता चलेगा कि उस संगठन में जो कलात्मक कृतियों से सम्बन्धित है तथा उनमें जो मानवी प्राणी की अन्य कृतियों से ताल्लुक रखते हैं और जिनका ऊपर ज़िक्र किया जा चुका है, सारभूत अन्तर है। क्योंकि व्यक्ति का ज्यादा परिचय दूसरे प्रकार के संगठनों से होता है, सो ऐसा शक होता है कि लोग कई बार पहिली प्रकार के संगठन को समझ नहीं पाते और कभी-कभी तो उनके अस्तित्व से भी वाकिफ़ नहीं होते। यदि इस पर ज्यादा विचार किया जाय तो पता चलेगा कि वास्तव में बात कुछ ऐसी ही है।

एक सौंदर्यनिष्ठ संगठन में तथा सौंदर्यहीन संगठन में केवल यही अन्तर है कि पहले प्रकार का संगठन स्वयं ही अपना उद्देश्य और पूर्ति होता है। परन्तु सौंदर्यहीन संगठन का उद्देश्य अपने संगठन से बाहर होता है। वह उस उद्देश्य के लिए वस्तुतः और मुख्य रूप में पैदा किया जाता है और उसकी सारी सार्थकता उस वाह्य उद्देश्य के लिए उपादेयता की मात्रा पर निर्भर होती है। सौंदर्यहीन संगठनों में जो तर्कपूर्ण संगठन रहते हैं उनके विषय में मैं यहां कुछ नहीं कहना चाहता, क्योंकि जिस विषय पर यहां विचार हो रहा है उसके अनुसार वह तर्कपूर्ण संगठन सौंदर्य-निष्ठ संगठन से सादृश्य रखते हैं। सौंदर्यनिष्ठ और तर्कानुकूल संगठन के विषय पर मैं किसी और स्थल पर लिखूंगा।

एक सौंदर्यनिष्ठ संगठन एकदम संतुष्ट कर देता है । सौंदर्यनिष्ठ संगठन केवल ऐसी सन्तुष्टि में सहायक होता है जो उस आवश्यकता की पूर्ति से उत्पन्न होती है, जो तत्क्षण होने वाले ग्राह्य अनुभव से दूरस्थ है।

एक दृष्टान्त लीजिए। एक मशीन कुछ पुर्ज़ों का संगठन है। उसके पुर्ज़े परस्पर किसी उद्देश्य—मान लीजिए, ट्रेन चलाने के लिए—जुड़े हुए होते हैं। कोई विशेष पहिया किसी विशिष्ट स्थान में इसलिए नहीं जोड़ा गया है कि वह वहां हमारे नेत्रों को आनन्दकर होगा या उससे आनन्ददायक चाक्षुष आकृति की प्राप्ति होगी । परन्तु इसलिए कि यदि इंजन को काम करना है तो उसका उस स्थान में होना आवश्यक है।

हो सकता है कि उस विशेष स्थान में वह पहिया आंखों को चुभे या मशीन की अन्यथा संतोषप्रद आकृति को नष्ट कर रहा हो। सच्चे कलाकार को शायद मशीन के चित्र में उस पहिए को या तो बिल्कुल छोड़ना पड़े और या पहिए अथवा बाकी इंजन इन दोनों में से एक का रूप बिगाड़ना पड़े, ताकि उस खटकने वाले तत्व को दूर कर दे जो पहिए को बीच में रखने से उत्पन्न होगा। संक्षेप में, पहिए के बिना इंजन संतोषप्रद नियमबद्ध संगठन है, यानी सौंदर्यनिष्ठ संगठन है। पहिए के साथ इंजन संतोषप्रद उपयोगी संगठन है अर्थात् सौंदर्यहीन संगठन है।

और देखिए। धार्मिक आचारों और नियमों में शारीरिक चेष्टाओं द्वारा ऐसी क्रियाएं की जाती हैं जिनके द्वारा अलौकिक देवताओं को संतुष्ट करने की आशा रहती है। शारीरिक चेष्टाओं की सार्थकता तभी है यदि उनसे यह लक्ष्यपूर्ति हो जाय । अप्रिय और आनन्दविहीन होने पर भी, जब तक उनसे ऐसी आस्था रहती है कि उनसे दैवीकृपा प्राप्त की जा सकती है या दैवीकोप का शमन किया जा सकता है, तभी तक वह संतोषप्रद होती हैं । जिस क्षण वह अपने में अभिप्रायपूर्ण हो जाती हैं, यानी केवल इस कारण से संतोष देने लगती हैं कि उनसे शरीर के अंगों का सुरतालमय संचालन होता है, उसी क्षण वह नृत्य में परिवर्तित होकर सौंदर्यनिष्ठ संगठन बन जाती हैं।

सौंदर्यनिष्ठ संगठनों का विशिष्ट लक्षण यह है कि उनका लक्ष्य बाह्य उद्देश्य की तरफ़ होता है। राजनीतिक जीवन में पार्लियामेंट सम्बन्धी संस्थाओं का लक्ष्य होता है कि बहुमत को प्रभावोत्पादक किया जाय। अर्थ सम्बन्धी योजनाओं का उद्देश्य उत्पत्ति, वितरण और उपयोग में संतुलन को पुनःस्थापित करना होता है। इसी प्रकार अन्य कई उदाहरण गिनाए जा सकते हैं। जिस बात पर मैं ज़ोर देना चाहता हूं वह यह है कि जिस मात्रा में कोई संगठन दर्शक का ध्यान अपने में और अपने द्वारा केवल इस कारण खींच लेता है कि वह कुछ नियमों पर आधारित संगठन है, उसी परिमाण में वह सौंदर्यनिष्ठ है। इसके अतिरिक्त उसका सौंदर्यनिष्ठ होना इस बात पर भी निर्भर करता है कि बाह्य उद्देश्यों से वह किस मात्रा में ध्यान को हटा सकता है। सौंदर्यनिष्ठ संगठन द्वारा प्रेरित सौंदर्यनिष्ठ अनुभव एक प्राप्ति है। सौंदर्यहीन संगठन द्वारा सौंदर्यहीन अनुभव प्राप्ति का साधन मात्र होता है। पहला यानी सौंदर्यनिष्ठ अनुभव कभी अपने से बाहर नहीं देखता। लेकिन दूसरा सदैव साधन होने के कारण अनिवार्य रूप से बाहर देखता है।

हमारी यह प्रवृत्ति है कि हम सदैव प्रत्येक संगठन के विषय में ऐसी उपयोगिता को ढूंढते रहते हैं जिसका किसी-न-किसी उद्देश्य से सम्बन्ध हो। अस्तित्व के लिए आजकल जो प्रबलरूप में संघर्ष करना पड़ता है, उससे इस धारणा को और भी कृत्रिम प्रोत्साहन मिला है। परन्तु यह धारणा या प्रवृत्ति ही कला के प्रति हमारे दृष्टिकोण की प्रायः सब भ्रान्तियों का मूल है। यह समझ लेना कि कोई भी संगठन—चाहे वह रंगों और रेखाओं या ध्वनियों या और किसी वस्तु का हो—उपयोग सम्बन्धी सार्थकता के बिना भी नियमानुसार सार्थक हो सकता है, कला और सदाचार, कला और प्रकाशन, कला और प्रकृति का सत्यनिरूपण, सौंदर्य और कुरूपता आदि की सब समस्याओं का सुझाव है। यह सब समस्याएं प्रतिदिन के अनुभवों से उत्पन्न इस धारणा से उठती हैं कि जिस प्रकार सौंदर्यहीन संगठनों (और अनुभवों में ऐसे संगठनों की ही बहुतायत रहती

है) के कुछ विशेष उद्देश्य रहते हैं, उस प्रकार सब संगठनों का कुछ-न-कुछ अभिप्राय या प्रयोजन होगा। कला द्वारा मनुष्य की भौतिक उन्नति होनी चाहिए, यानी कला का नैतिक उद्देश्य हो। कला को प्रकृति का चित्रण करना चाहिए, यानी चित्रण सम्बन्धी प्रयोजन की पूर्ति हो। कला से युग की आत्मा की अभिव्यक्ति हो, यानी आलेख्यात्मक उद्देश्य की पूर्ति हो। इस प्रकार की अन्तहीन धारणाएं प्रचलित हैं। संगठन में व्यावहारिक या उपयोग सम्बन्धी उद्देश्य ढूंढने की यह आदत, जो असाध्य बीमारी सी बन गई है, कला के अभिमूल्यन और उसको ठीक समझने के रास्ते में सब से बड़ी और प्रत्यक्ष रूप में अजेय बाधा है।

संगठन से सम्बन्धित आजकल के सांस्कृतिक वातावरण और तदनुसार आधुनिक विचार का दूसरा लक्षण है विशेषीकरण। विभिन्नता और विशेषीकरण से ही मनुष्य को उसके शरीर-निर्माण तथा शारीरिक अवयवों की प्राप्ति हुई है। Renaissance के ज़माने से और विशेष कर विभिन्न विज्ञानों की तथा उनके परिणामों—जिनके लागू होने से पिछली शताब्दी में उद्योग के क्षेत्र में क्रान्ति आ गई—की प्रगति के होने के बाद से मानव जीवन की अवस्थाओं तथा हमारे वातावरण की बढ़ती व्यग्रता ने ज्यादा से ज्यादा विशेषीकरण की मांग की है। यहां तक कि यह मज़ाक मशहूर है कि विशेषज्ञ वह है जो कम से कम विषयों के बारे में ज्यादा से ज्यादा जानता हो। संस्कृति के इस विशेषीकरण सम्बन्धी अंग का, जिससे हमारे विचार प्रेरित होते हैं और जो हमारे दृष्टिकोण को निर्धारित करता है, वास्तव में हमारी कला के प्रति दृष्टिकोण पर लाभदायक या हितकर प्रभाव होना चाहिए। मानवी प्रयासों के अन्य क्षेत्र में विशेष ज्ञान की आवश्यकता से मनुष्यों को यह सूझ जाना चाहिए था कि कला के क्षेत्र में भी सब नहीं केवल कुछ व्यक्ति ही कलात्मक कृति का पूर्णरूप से आस्वादन कर सकते हैं। परन्तु ऐसे लाभदायक प्रभाव के स्थान पर कला के क्षेत्र में विशेषीकरण का Compartmental or Museum

Conception of Art[1] के अतिरिक्त और कुछ अभिप्राय नहीं रहा। और इसी संकुचित धारणा के विरुद्ध अपनी पुस्तक Art as Experience[2] में Prof. Dewey ने बहुत कुछ लिखा है।

लेकिन Prof. Dewey की उक्तियां ठीक प्रकार के विशेषीकरण पर लागू नहीं होतीं। वह उस प्रकार की विशिष्टता पर लागू नहीं हो सकतीं जो असाधारण रूप से तीव्र संवेद्यता पर अपने को निर्धारित करती है। कला विवेचना में इस तरह के विशेषीकरण की संगतता को हम समझ नहीं सके हैं। विशेषीकरण की सतत मांग ने मानवी कर्मण्यता के एक के बाद दूसरे क्षेत्र को साधारण आदमी के न्याय की सीमा से दूर कर दिया है। इसलिए वह समझता है कि उसे कला के क्षेत्र से और भी दृढ़ता से चिपके रहना चाहिए और कला सम्बन्धी अपनी वैयक्तिक धारणाओं के लिए यदि पूर्ण मान्यता नहीं तो विशेष महत्व का दावा अवश्य करना चाहिए। वह सापेक्षता अथवा Quantum Theory[3] को शायद समझ न सके, और यदि दो अर्थशास्त्रवेत्ता बहस करें तो वह चित्त की पूर्ण स्थिरता से अपनी व्यग्रता को स्वीकार कर लेगा। बड़ी-बड़ी फैक्टरियों या उद्योग-गृहों में वह भयत्रस्त दिखाई देगा, पर वहां जो अपना काम जानते हैं उन पर कभी क्रोध नहीं करेगा। परन्तु यदि आप उसे यह बतायें कि वह गलत कोटि के संगीत या चित्रों की प्रशंसा कर रहा है, या ठीक तरह के चित्रों और संगीत की श्लाघा तो कर रहा है पर गलत कारणों से, तो वह उत्तेजित होकर आपका तीव्र विरोध करेगा। वह स्वमताभिमान से दृढ़तापूर्वक कहेगा कि कला के विषय में साधारण आदमी का मत प्राभियोगहीन है। एंग्लो-सैक्सन न्यायशास्त्र में साधारण व्यक्ति के सिद्धांतों तथा उक्तियों को विशेष महत्व देने की धारणा ने अधिकार के इस अन्यायपूर्वक ग्रहण को पुष्ट किया है।

---

१. कलाओं को अलग-अलग रख कर उनकी समीक्षा करना।

२. कला अनुभव के रूप में।

३. परिमाण या मात्रा सम्बन्धी।

प्रजातन्त्रवाद की भावना से उसको न केवल सहारा ही मिला है बल्कि उसने इस पर पवित्रता की मुहर भी लगा दी है। साधारण व्यक्ति की इस मिथ्याकल्पना का कानून में भले ही कितना महत्त्व हो, सौंदर्यनिष्ठ विचार-धारा में तो इसने गड़बड़ डाल रखी है और कलात्मक कृतियों की गलत व्याख्या को बढ़ावा दिया है। कला-समीक्षा का साधारण व्यक्तियों के प्रति इस अपील से जितनी जल्दी छुटकारा हो जाय, और जितनी शीघ्रता से वह केवल उन लोगों की संतुष्टि से ही जो शुद्ध एवं गहन चेतना-संपन्न हैं अधिकार प्राप्त करने लग जाय, उतना ही कला तथा साधारण व्यक्तियों दोनों के लिए अच्छा होगा।

कला के आस्वादन के रास्ते में तीसरी रुकावट कला की व्याख्या को प्रचार का साधन बनाने का प्रलोभन है। यह पहली बाधा से मिलती जुलती है। अन्तर केवल इतना है कि इसमें व्यावहारिक के स्थान पर दार्शनिक पक्षपात रहता है। मई १९३२ के Architectural Review में प्रकाशित Robert Byron के लिखे लेख के कुछ अंश, जो Sir Michael Sadler ने उद्धृत किए हैं, उनको मैं यहां दुहराना चाहता हूं। उन्होंने लिखा है कि "मौस्को में आधुनिक फ्रांसीसी चित्रों का ऐसा अत्युत्तम तथा प्रतिनिधि संग्रह है जो शायद ही कभी देखने में आया हो। उसके प्रत्येक कमरे के प्रवेशद्वार पर छपे हुए उल्लेख टंगे हैं जिनका उद्देश्य साधारण दर्शकों को कलाकृतियां समझाने में सहायता करना है।

Monet : सत्तावाद से साम्राज्यवाद तक के परिवर्तन का युग। मध्यवर्गीय जनता की रुचि।

Cezanne : साम्राज्यवाद की प्रारम्भिक अवस्था का युग। उद्योगी मध्यमवर्गीय जनता की रुचि।

Van Gogh : साधारण मध्यमवर्गीय की रुचि।

Signac : निम्न और मध्यश्रेणी के मध्यमवर्गीय की रुचि। ज्यादा बड़े उद्योगी मध्यमवर्गीय से प्रभावित।

Gargin : उन लोगों की रुचि जिन्हें जीविका के लिए काम नहीं करना पड़ता ।

Matisse : विकृत साम्राज्यवाद का युग ।"

बहुत लोगों को शायद यह अप्रगल्भ जान पड़ेगा । परन्तु सरकारी कम्यूनिस्ट-समीक्षक का मज़ाक बनाने से पहले उन्हें अपनी स्वाभाविक प्रतिक्रियाओं और व्यवसायात्मक कला-विवेचकों के ज्यादा हिस्से के स्वाभाविक निर्णयों एवं विचारों की परीक्षा कर लेनी चाहिए ।

वास्तव में यदि हम प्रोपेगण्डा शब्द के अर्थ को विस्तृत कर लें, ताकि इसके अन्तर्गत केवल राजनीतिक ढोलपीटना ही नहीं बल्कि हर प्रकार की लेक्चरबाज़ी भी आ जाय, तो हमें मानना पड़ेगा कि प्रोपेगण्डा लगभग सब कला-समीक्षा का मुख्य अंग रहा है और अभी भी है । अपने सर्वाधिक विमल रूप में यह 'भावनाप्रधान व्याख्या या निर्विवेचन' बन जाता है और सब इसकी प्रशंसा करने लगते हैं । उन्हें रत्ती मात्र भी यह संदेह नहीं होता कि कला को अनर्थक व असंगत बनाया जा रहा है। कम्यूनिस्ट समीक्षक और उसके कम्यूनिज्म सम्बन्धी आदर्शों की ज़ोरदार शब्दों में निन्दा करने वाले भी इस तथ्य से कम ही अवगत होते हैं कि वह भी उसी प्रलोभन के शिकार हैं और उसी गलती को कर रहे हैं जब वह अपनी धर्म या नीति सम्बन्धी वैयक्तिक और विशिष्ट मतप्रणाली से पैदा हुई पूर्व-कल्पनाओं के अनुसार कला की व्याख्या करने की कोशिश करते हैं ।

ऐसी विशिष्ट, आध्यात्मिक एवं नैतिक पूर्वकल्पना पर निर्धारित व्याख्या विशेष हानिकारक होती है, क्योंकि इस पर महानता का रंग चढ़ा रहता है । अप्रौढ़ राजनीतिक प्रचार अपनी असंगतता को स्वयं ही प्रकट कर देता है । परन्तु बंगाली कला या इसकी धार्मिक लाक्षणिकता के रहस्य-मय अंश की प्रशंसा को कोई गलत कला-समीक्षा नहीं समझता, क्योंकि रहस्यवाद या धार्मिक अथवा नैतिक भावनाओं में कुछ श्रेष्ठता निहित मानी जाती है । बाह्यरूप से सौंदर्यनिष्ठ आनन्द के गहरे स्रोत को

अधिकाधिक सम्पन्न करता दीख पड़ने वाला यह सौंदर्यहीन पक्षपात वास्तव में उसे इतना विषमय कर देता है कि कला के एक नये मानदण्ड तक की प्रतिष्ठा हो जाय।

इस भावनाप्रधान व्याख्या का वाहक सदैव सुन्दर शब्द और अभिव्यक्ति में निपुण गद्य होता है। उनका प्रवाह अपने निर्णयों की पूर्ण असंगतता से बिल्कुल बेखबर, मदमाती आत्मश्लाघा और अस्थिर आध्यात्मिक प्रशंसा की झाग उड़ाते हुए चलता रहता है। ऐसे ऐसे समीक्षक हो चुके हैं जिन्होंने सौंदर्यशास्त्र की एक पुस्तक की केवल इस कारण आलोचना की कि उसमें मनन करने योग्य गूढ़ बातें तो थीं पर 'सौंदर्यनिष्ठ' गद्य का एक भी पृष्ठ न था। कला में चित्रित भावनाओं पर टिमटिमाती बातें उनकी असंगतता के विषय में प्रतिवादों को दबा देती हैं और जहां मनुष्यों को चित्रकला, मूर्तिकला, संगीत या स्थापत्य-कला को ढूंढना चाहिए वह कविता की तलाश करते हैं। सर्वप्रिय चित्रों या मूर्तियों में से अधिकांश की सुर्खियों पर एक नज़र या कलात्मक कृति के सामने अधिकांश प्रेक्षकों के सहज निर्णयों का अनुसन्धान यह स्पष्ट कर देंगे कि हम सब पर ही हलका 'लाल' ('red') रंग चढ़ा हुआ है।

अभी तक मैंने बाहरी वातावरण के उन अंगों पर लिखा है जो मानसिक समक्षेत्र पर परिवर्तित होने पर कला के आस्वादन और सौंदर्य-निष्ठ व्याख्या के क्षेत्र में उसके उपयुक्त व्यापार में बाधा डालते हैं। परन्तु भ्रान्ति का वास्तविक मूल है उन लोगों की बौद्धिक तथा भावनात्मक परिमितता जो कला की विवेचना करने का प्रयत्न करते हैं। यहां मैं पत्रकारों के विषय में कुछ नहीं कहूंगा। उनका कुछ बहाना है। जनता की मांगों को अपने सांचे में डालने की कोशिश करने के स्थान पर उसके आगे सिर झुकाने की असुविधा और निरन्तर पुनरावृत्ति की आवश्यकता से उनकी संवेद्यता मन्द पड़ जाती है। परन्तु जो स्वेच्छा

से कला के विवेचक और कला के दार्शनिक बनते हैं, उनका कोई ऐसा बहाना नहीं हो सकता। कोलरिज को दुहराते हुए हम कह सकते हैं :

"It is neither possible nor necessary for all men and for many to be philosophers. There is a philosophic consciousness which lies beneath or, as it were, behind the spontaneous consciousness natural to all reflecting beings."[1]

सौंदर्यनिष्ठ संवेद्यता की प्रारम्भिक कमी तो रहती है। इसके साथ आधुनिक समीक्षक ऐसे वाक्चपल शब्दों का जिनका ठीक ठीक अर्थ निर्धारित करने का वह कभी प्रयत्न नहीं करता, प्रयोग करने की गलती कर बैठता है। वह कभी सूक्ष्म न्यायात्मक या मनोविज्ञान सम्बंधी भेदों की परवाह नहीं करता और ऐसा आभास देता है कि उसके विचार में अस्पष्टता एवं असंदिग्धता ही सौंदर्यनिष्ठ आनन्द का सार है। वह पहले से तैयार घटनाओं को बिना उनकी विश्लेषणात्मक परीक्षा किए स्वीकार कर लेता है और परम्परावाद को तथा बड़े लेखकों की विपुल उक्तियों को उद्धृत करने को ही गहनता समझने का भ्रम करता है। आजकल की कला-समीक्षा में संगत अंश को असंगत अंश से विभिन्न करने की शक्ति की कमी दिखाई पड़ती है और Shakespeare, Shelley, Keats, Browning और कभी-कभी Goethe और Dante के अंश उद्धृत कर पाठक को फुसलाने या उसका ध्यान खींचने की कोशिश रहती है। 'प्रकृति', 'अनुभव', 'सौंदर्य', 'सत्य', 'माध्यम',

---

१. सब या बहुत से लोगों के लिए दार्शनिक बनना न तो संभव है और न आवश्यक ही। एक दार्शनिक और सौंदर्यनिष्ठ चेतना रहती है जो सब विचारशील प्राणियों की स्वाभाविक चेतना के पीछे छुपी रहती है।

'आध्यात्मिक', 'अन्तर्ज्ञान' आदि कुछ ऐसी परिभाषाएं हैं जिनका प्रयोग इस प्रकार किया जाता है मानो उनका अर्थ स्पष्ट, सादा, आसानी से समझ आने वाला और सर्वत्र स्वीकृत हो। किसी ज़माने में यह समझा जाता था कि 'empathy' शब्द मात्र से सब कलाशास्त्र की समस्याएं छूमन्तर हो जायंगी और इसका प्रयोग करने वालों में बहुत कम ऐसे हैं जो उसके पूरे गर्भित अर्थों को समझने का प्रयत्न करते हों।

प्रत्येक सौंदर्यनिष्ठ दार्शनिक यह कह सकता है कि कला के सामान्य रूप तथा विभिन्न कलाओं की विभिन्न विशिष्ट प्रकृतियों का खूब गहरा अध्ययन करे और अपने निर्दिष्ट सिद्धान्तों को अपनी तथा दूसरों की प्रमाणित प्रतिक्रियाओं से निकाले। सौंदर्यशास्त्र को जिन धारणाओं या व्याख्याओं की सहायता से वह पद्धतिबद्ध करना चाहता है, उनकी विशेषताओं को समझने और प्रकाशित करने की भी शक्ति उसमें चाहिए। यह एक प्रचलित मत है कि सौंदर्यनिष्ठ प्रतिक्रियाओं से मिलते-जुलते अनुभव का विश्लेषण उस तथा उसके अनुरूप अनुभवों की सतत अनुभूति के लिए हानिकारक है। इस विचार में लेशमात्र भी सत्य नहीं है और केवल वही लोग जो कला-समीक्षक कहलाना तो चाहते हैं पर विश्लेषण के लिए आवश्यक बौद्धिक श्रम से बचना चाहते हैं, इस प्रकार का हवाला देकर छुटकारा पाने की कोशिश करते हैं।

ताकि आप यह न समझें कि मैं आधुनिक कला-समीक्षा के अविश्लेषणात्मक रूप की कड़ी समालोचना कर रहा हूं, मैं एक प्रोफेसर का दृष्टान्त देता हूं जिन्होंने निम्नलिखित वाक्य लिखा है: "Art is the translation of beauty in a form that satisfies our aesthetic sense."[1] अब ज़रा इसको देखिए: कला सौंदर्य का रूपान्तर है। सो कला में रूपान्तरित होने से पहिले भी सौंदर्य

---

१. कला सौंदर्य का ऐसा रूपान्तर है जिससे हमारी सौंदर्यनिष्ठ चेतना को संतुष्टि मिले।

का अस्तित्व था। कहां ? 'कला सौंदर्य का ऐसा रूपान्तर है।' सो सौंदर्य का अस्तित्व तब भी था जब उसका ऐसा रूप था जिससे हमारी सौंदर्य-निष्ठ चेतना संतुष्ट नहीं थी।

फिर सौंदर्य क्या है ? और लेखक लिखता है: "इस परिभाषा से सब सहमत हैं।" मैं आशा करता हूं कि ऐसा नहीं होगा। अन्यत्र भी अन्यथा महत्वपूर्ण विवरणों में अविश्लेषित विचारों को भाष्यों द्वारा आवरणित करने की यही प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई देती है। इस प्रकार की रचना से यह हानि होती है कि लोग ठगे जाते हैं। वह अनुमान करते हैं कि विचारों का स्पष्टीकरण होगया जब कि वास्तव में कुछ नहीं हुआ होता। और उन पर एक व्यर्थ उद्देश्यहीन सौंदर्यशास्त्र को लाद दिया जाता है।

मैंने कुछ ऐसे परमावश्यक विचारों को जताने का प्रयत्न किया है जिनके कारण मेरे खयाल में आधुनिक समीक्षकों के लिए प्रत्यक्ष रूप में सौंदर्य को समझना या पहचानना कठिन हो गया है। जब तक हमारे विचारों में गढ़ी हुई यह बाधाएं दूर नहीं हो जाती हैं, और हम उनसे बिना प्रतिबन्धित स्वेच्छानुसार प्रतिक्रियाओं के योग्य नहीं हो जाते, कला का अभिमूल्यन कृत्रिम ही रहेगा। मेरी यह धारणा गलत है या ठीक, इसका निर्णय तो पाठकों के हाथ में है। वह यह बड़ी आसानी से कर सकेंगे, यदि वह किसी कलात्मक कृति के समक्ष जाने के अपने प्रयोजन और उस कृति के विषय में अपनी प्रतिक्रिया का अन्तरावलोकन द्वारा विश्लेषण करें, तथा यह समझने की कोशिश करें कि उन्हें एक कलात्मक कृति दूसरी से क्यों ज्यादा पसन्द है। अथवा अपने सौंदर्यनिष्ठ अनुभव अपने मित्रों के अनुभवों से मिला कर देखें और यह नोट करें कि यदि उनके निर्णयों में विभिन्नता है तो उसका क्या कारण है। इस प्रकार के विश्लेषण और आदान-प्रदान से ही उपरिलिखित विचार मुझे सूझे हैं।

: ४ :

अरस्तू की '*Poetics*' में आवश्यकता का सिद्धांत

शास्त्रशुद्ध साहित्यिक समीक्षा का प्रारम्भ अरस्तू से हुआ। अभ्यास-पद्धति की दृष्टि से अरस्तू की Poetics का महत्व बहुत है। उस पुस्तक में एक से अधिक स्थलों पर अरस्तू विषय की सत्यता के करीब करीब, अपने साधारण समीक्षात्मक दृष्टिकोण के बावजूद, सौभाग्यवश पहुंच गए हैं। कुछ आकस्मिक सादृश्यों पर निर्भर उनके सिद्धांतों की केवल ऊपरी युक्तिसंगतता तथा अन्य आलोचकों द्वारा उन सिद्धांतों की निर्णयात्मक ढंग की व्याख्या---इन दोनों बातों के कारण वह प्रायः सर्वमान्य और सर्वस्वीकृत रहे हैं। पर मैं समझता हूं कि साहित्य के सौंदर्य-निष्ठ अभिमूल्यन के लिए यह बात अतिहानिकारक रही है। साहित्य-समीक्षा के जिस सिद्धांत और साहित्यिक श्रेष्ठता की जिस कसौटी सम्बन्धी विचारों पर अरस्तू पहुंचे हैं, या अपने मूलभूत दृष्टिकोण के अनुसार जिन की ओर उन्होंने संकेत किया है, उन सब का महत्व संदिग्ध है। क्योंकि ललित कला के रूप में साहित्य का जो क्षेत्र है उसमें वह मूलभूत दृष्टिकोण ही संगत अतः मान्य नहीं।

इस निबन्ध में मैं इस दृष्टिकोण की प्रकृति के विषय में बताना चाहता हूं, और यदि हो सके तो यह भी जतलाने का प्रयत्न करूंगा कि मैं इसे असंगत क्यों समझता हूं। उस उद्देश्य के लिए मुझे अरस्तू के

Doctrine of Necessity[१], और Probable or Necessary Sequence[२] सम्बन्धी सिद्धांत, और जिस प्रकार की चेतनापूर्ण एकता से इसका प्रादुर्भाव हुआ है तथा जिसकी भावना, Butcher के शब्दों में, "May be said to be at the basis of his whole poetic criticism"[३]— इन सब पर विचार करना होगा। अरस्तू के मूलभूत दृष्टिकोण की इस कमी को मान लेने से समीक्षात्मक निर्णयों के सूचीकरण में बहुत अन्तर पड़ेगा या नहीं, यह विवादास्पद विषय है। परन्तु यदि मेरा तर्क ठीक है तो इससे कम से कम इतना तो होगा कि साहित्यिक समीक्षा के प्रनियमों को अधिक गहरे और प्रामाणिक आधार की प्राप्ति हो जायगी।

अरस्तू की समीक्षाविषयक प्रतिष्ठा के लिए यह अच्छा ही रहा कि उनके सिद्धांतीकरण में विघ्न डालने वाला 'भावनामय' कविता रूप का विशिष्ट भेद यूनानियों में था ही नहीं। अरस्तू के विश्लेषणात्मक अनुसन्धान के मुख्य विषय दो थे: दुःखान्त नाटक और महाकाव्य। सौभाग्यवश दोनों ही घटनाप्रधान हैं। यही कारण है कि सब से पहली बात जो Poetics में हमारा ध्यान खींचती है वह अरस्तू द्वारा साहित्य में कथावस्तु के महत्व पर बारबार ज़ोर देना है। उदाहरणतया, उनकी पुस्तक से उद्धृत कुछ अंश देखिए:

"Most important of all is the structure of incidents."[४]

---

१. आवश्यकता सम्बन्धी सिद्धांत।

२. सम्भाव्य व आवश्यक अनुक्रम।

३. जो उनकी सारी कविता सम्बन्धी समीक्षा का आधार कही जा सकती है।

४. घटनाओं का निर्माण सब से अधिक महत्वपूर्ण है।

"Character comes in as subsidiary to the action. Hence, the incidents and the plot are the end of tragedy; and the end is the chief thing of all."[1]

"Again, if you string together a set of speeches expressive of character, and well finished in point of diction and thought, you will not produce the essential tragic effect nearly so well as with a play which, however deficient in these respects, yet has a plot and artistically constructed incidents."[2]

"The Plot then is the first principle, and, as it were, the soul of the tragedy: character holds the second place."[3]

---

१. पात्र तो घटना के केवल सहायक मात्र हैं। इसलिए कथावस्तु और घटनाएं ही दुःखान्त नाटक का उद्देश्य हैं और उद्देश्य ही सब से मुख्य वस्तु है।

२. भाव तथा भाषा के विचार से अत्युत्तम और पात्रों की अभिव्यक्ति करने में समर्थ भाषणों की लड़ियों को क्रमबद्ध करने से भी आप वह वास्तविक शोकमय प्रभाव पैदा नहीं कर सकेंगे जो इन सब बातों से रहित नाटक कर सकता है, केवल यदि उसमें कथावस्तु हो और घटनाओं का निर्माण कलात्मक ढंग से किया गया हो।

३. सो कथावस्तु प्रथम प्रनियम है, या यों कहिए, शोकान्तक नाटक की आत्मा है, पात्रों का स्थान गौण है।

"The poet or 'maker' should be the maker of plots rather than of verses."[1]

साहित्य में कथावस्तु तथा पात्रों की सापेक्ष विशिष्टता के विषय में अरस्तू के विचारों की प्रवृत्ति को जताने के लिए यह उद्धरण काफ़ी होंगे। कथावस्तु-प्रधान विषय को अरस्तू ने इसलिए नहीं चुना कि उन्होंने कविता की प्रकृति का गहरा अनुसन्धान किया था, या साहित्यिक कृतियों के विषय में उनका विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण ही सत्य था। जैसा कि मैं लिख चुका हूं, यह तो दैवयोग ही था कि जिस विषय पर उन्होंने लिखा उसमें कथावस्तु प्रधान थी। खैर, दुःखान्त नाटक तथा महाकाव्य में कथावस्तु को मूलवस्तु मानने की प्रवृत्ति चाहे कैसे ही शुरू हुई हो, साहित्य-समीक्षा के लिए बहुत लाभदायक है, क्योंकि यह साहित्य में संगठन की महत्ता को रेखाङ्कित करती है।

अरस्तू लिखते हैं कि कथावस्तु से उनका तात्पर्य घटनाओं की क्रम-पूर्वक रचना से है। दुःखान्त नाटक और महाकाव्य के संकुचित क्षेत्र में इस क्रम को महत्व देने का मतलब यह है कि यदि इस धारणा का रूप विस्तृत करके उसे साहित्यिक कृति के सारे क्षेत्र पर लागू कर दिया जाय तो यह कविता या यूं कहिए साहित्यिक कृति में विभिन्न अंशों के संगठन अथवा भागों की रचना की विशिष्ट महानता को स्वीकार करना होगा। यह मानना होगा कि प्रत्येक साहित्यिक कृति में संगठन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। किसी साहित्यिक रचना में, जो कलात्मक कृति होने की विशिष्टता प्राप्त कर लेती है, और ऐसी कृति में जो ऐसा नहीं कर पाती, अन्तर केवल यह है कि पहिली अपने माध्यम के ऊपर संगठन का आरोपन करने में सफल हो गई है और दूसरी नहीं। पहिली विभिन्न तत्वों का पारस्परिक सम्बन्ध

---

१. कवि या रचयिता को पद्यों के स्थान पर कथावस्तुओं का निर्माता होना चाहिए।

जोड़ कर माध्यम को सम्पूर्णता के रूप में संगठित कर लेती है, परन्तु दूसरी आपको केवल अलग अलग घटनाओं या तत्वों का पुंज देती है। यह संगठन साहित्य का ललित कला के रूप में विशिष्ट लक्षण है और इसकी मात्रा तथा गुण से ही साहित्य की श्रेष्ठता का वास्तविक आदर्श या कसौटी निश्चित हो चाहिए। सौंदर्यनिष्ठ तुष्टि उत्पन्न करने में प्रयत्नशील साहित्यिक कृति में संगठन के कार्य को महत्व देकर अरस्तू ने समीक्षा की महान् सेवा की है। परन्तु साहित्य के लिए परमावश्यक इस संगठन की प्रकृति का निर्धारण करते समय वह अपने दार्शनिक पक्षपात और उन पक्षपातों से उद्भूत गलत दृष्टिकोण से—जिसकी ओर मैंने संकेत किया है—उलट रास्ते पर चले गए और परिणामस्वरूप उनके समीक्षात्मक सिद्धांतों में भ्रान्ति आ गई।

साहित्यिक संगठन के विषय में अरस्तू की जो धारणा है उसकी प्रकृति क्या है? अरस्तू के अनुसार दुःखान्त नाटक विशेषरूप में, और मान लीजिए साधारणरूप में प्रत्येक कलात्मक कृति "An Organic Whole"[१] है। यह दोनों शब्द महत्वपूर्ण हैं। दुःखान्त नाटक "is an imitation of an action that is complete and whole" और "A whole is that which has a beginning, middle and end."[२] इसी प्रकार महाकाव्य "should have for its subject a single action, whole and complete, with a beginning, a middle and an end."[३] एक क्षण

---

१. चेतनापूर्ण सम्पूर्णता।

२. ऐसे कार्य की प्रतिकृति है जो पूर्ण और समूचा हो। और समूचा वह है जिसका शुरू, मध्य और अन्त हो।

३. महाकाव्य का विषय ऐसा कार्य होना चाहिए जो पूर्ण और समूचा हो; प्रारम्भ, मध्य और अन्त से युक्त।

के लिए इस बात को भूल जाइए कि इस प्रकार की साहित्यिक सम्पूर्णता में, जिसकी कल्पना अरस्तू ने की है, क्या संगठित है। साहित्यिक सम्पूर्णता में चाहे जो कुछ भी संगठित हो, जिस सम्पूर्णता में वह इस प्रकार संगठित है उसको प्रारम्भ, मध्य और अन्त में विभक्त किया जा सकता है । इन तीनों अवस्थाओं का अनुरूप मिश्रण ही सम्पूर्ण साहित्यिक कृति है ।

परन्तु किसी भी संगठन से अभिप्रेत उसके विभिन्न अंशों को बांधने वाला संगठनकारी प्रनियम है। अर्थात् साहित्य-कृति की एकता की अगली शर्त यह है कि उसका आदि, मध्य और अन्त किसी प्रनियमानुसार बद्ध हो । यह स्पष्ट है कि साहित्यिक सम्पूर्णता तभी पूरी तरह संतोषप्रद हो सकती है यदि यह प्रनियम किसी बाहरी या आकस्मिक परिस्थिति पर निर्भर न होकर उस सम्पूर्णता में ही निहित हो । कोई भी चेतनापूर्ण इकाई चेतनापूर्ण नियम से बंधी रहती है, किसी बाहरी बात से नहीं। अरस्तू ने भी लिखा है कि "Unity of Plot does not, as some think, consist in the unity of the hero."[1] परन्तु यह भी मानना पड़ेगा कि कथावस्तु की एकता समय अथवा स्थान की एकता में भी नहीं है। किसी भी चेतनापूर्ण एकता में "The structural union of the parts is such that if any of them is displaced or removed the whole will be disjointed or disturbed for that which may be present or absent without being perceived, is not an organic part

---

१. जैसा कि कुछ लोग समझते हैं, कथावस्तु की एकता नायक की एकता में नहीं रहती ।

of the whole."[1] यह स्पष्ट है कि इस आवश्यक अन्योन्याश्रय को न पात्र की एकता और न समय तथा स्थान की एकता ही जता सकती है।

फिर वह कौन सा ऐसा प्रनियम है जिससे साहित्यिक सम्पूर्णता को उसके आन्तरिक आवश्यक संगठन की प्राप्ति होती है ? यहां अरस्तू ने "सम्भाव्य और आवश्यक अनुक्रम" सम्बंधी सिद्धान्त का प्रयोग किया है। कवि का सरोकार केवल उन बातों से है जो शक्य हों। ("With what is possible according to the law of probability or necessity.")

"The universal tells us how a person of given character will on occasion speak or act, according to the law of probability or necessity; and it is this universality at which Poetry aims in giving expressive names to characters." The episodic plot is condemned because in it "......the episodes succeed onother without probable or necessary sequence." भाग्य का उलट-फेर या उसकी स्वीकृति "should arise from the internal structure of the plot, so that what follows should be the necessary or probable result of the preceding action." कथावस्तु में उलझन

---

१. विभिन्न अंशों की निर्माण योजना ऐसी रहती है कि यदि उनमें से किसी एक को भी निकाल दिया जाय या स्थानान्तरित कर दें तो उस वस्तु का सारा क्रम ही बिगड़ जायगा। जिसकी उपस्थिति या अनुपस्थिति पर ध्यान तक न दिया जाय वह वस्तु का चेतनामय अंश नहीं हो सकता।

और स्पष्टीकरण दोनों ही "must be brought about by the plot itself, and not by machinery." अन्त में, "Within the action there must be nothing irrational."[1]

इन सब उद्धरणों का और संभाविता के जिस सिद्धांत का इनमें समावेश है उसका सार यह है कुछ विशेष तथ्य, पात्र और घटनाएं दे दी जायं तो इनका परिणाम अमुक निकलेगा। सो सारा ज़ोर सम्भाविता की मात्रा पर है जो दिए हुए तथ्यों और उनसे निकले हुए निष्कर्षों को सम्बन्धित करती है। साहित्यिक वस्तु चाहे कुछ भी हो, यदि उसके संयोगांगों में यह सम्भावित अनुक्रम का सम्बंध न हो तो वह सम्पूर्णता संतुष्टिप्रद सम्पूर्णता न होगी, क्योंकि फिर कोई ऐसा प्रनियम बताना मुश्किल होगा जिसके द्वारा उसके सब संयोगांग किसी परमावश्यकता से बद्ध हो जायं। और यह कहने से भी कोई लाभ नहीं कि घटनाएं घटित हो चुकी हैं सो ऐसे प्रनियम की क्या जरूरत है। क्योंकि कवि को तो

---

१. 'सार्वत्रिक से यह पता चलता है कि संभाविता और आवश्यकता के प्रनियम के अनुसार विशिष्ट चरित्र का पात्र अमुक समय पर कैसे काम करेगा या क्या बोलेगा। और यही सार्वत्रिकता ही पात्रों को अभिव्यक्तिपूर्ण नाम देने में कविता का उद्देश्य रहती है।' प्रासंगिक कथावस्तु 'इसलिए हेय समझी जाती है क्योंकि उसमें घटनाएं सम्भाव्य और आवश्यक क्रम के बिना एक दूसरे के बाद घटित होती जाती हैं।' भाग्य का उलटफेर या उसकी स्वीकृति 'कथावस्तु के निर्माण से निकलनी चाहिए ताकि अनुगामी घटनाएं पूर्वगामी का आवश्यक या सम्भाव्य परिणाम हों।' 'उलझन और स्पष्टीकरण घटना में निहित होने चाहिएं और कृत्रिम उपायों द्वारा घटित न हों।' तथा 'घटनाओं में कुछ भी असंगत न होना चाहिए।'

वास्तविकताओं या असम्भावित शक्यताओं की अपेक्षा सम्भाव्य अशक्यताओं को ग्रहण करना चाहिए। कारण यह कि वास्तविकताओं आदि से मनुष्य की बुद्धि को उतनी संतुष्टि प्राप्त नहीं होती जितनी सम्भाव्य शक्यताओं से हो सकती है।

ऊपर मैंने अरस्तू के सिद्धान्तों का बहुत संक्षिप्त एवं साधारण रूप में वर्णन किया है। पर इतने से यह स्पष्ट होगया होगा कि साहित्य के उपयुक्त संगठन की प्रकृति के विषय में उसकी धारणा आद्योपान्त न्याय की मांगों से ओतप्रोत है। अरस्तू के अनुसार साहित्यिक संगठन की आन्तरिक प्रकृति भी तर्कपूर्ण संगठन है। अरस्तू का संगठनात्मक प्रनियम, जो कि संभाविता का है, तर्कपूर्ण आवश्यकता के सहारे ही उन्नति करता है। अरस्तू की उक्तियों को स्पष्ट करते हुए Butcher ने लिखा है: "The sequence of poetry is not the empirical sequence of fact but the logical or conceivable sequence of ideas; it eliminates chance and discovers unity and significance in characters and events."[1] और "The necessity which pervades his (i.e. Aristotle's) theory of tragedy is a logical and moral necessity."[2] सो अरस्तू का दृष्टिकोण मूलरूप में तर्कपूर्ण दार्शनिक का दृष्टिकोण है, सौंदर्यनिष्ठ दार्शनिक का नहीं। सौंदर्यपरक दृष्टिकोण के अनुसार संतोष-

---

१. कविता का क्रम तथ्यों का प्रयोगसिद्ध क्रम नहीं वरन् विचारों का तर्कपूर्ण और विचारणीय क्रम है। यह आकस्मिक अंश को निकाल कर पात्रों तथा घटनाओं में एकता और विशिष्टता को ढूंढता है।

२. अरस्तू के दुःखान्त नाटक सम्बंधी सिद्धांतों में जो आवश्यकता व्याप्त है वह नैतिक और तर्कपूर्ण आवश्यकता है।

प्रद सम्पूर्णता में सौंदर्य की अनुभूति के लिए जिन शर्तों का प्रतिपादन आवश्यक है, उनको ढूंढने के प्रयत्न में अरस्तू संभवतया असावधानी से अपने तर्क सम्बंधी पूर्व पक्षपातों के चक्कर में आ गए और हमें केवल ऐसा प्रनियम दिया जिसका पालन करना केवल उस सम्पूर्णता के लिए आवश्यक है जो तर्कसंगत हो।

तर्क सम्बन्धी अरस्तू की इस बीमारी पर विचित्र लेकिन शिक्षाप्रद पार्श्व-प्रकाश Poetics के इस स्थल में है जहां उन्होंने लिखा है कि कवि का कर्तव्य है "To tell lies as he ought।"[1] मिथ्या वर्णन की इस कला का सबसे बड़ा ज्ञाता होमर था। और इसका रहस्य कल्पना के क्षेत्र में पूर्वगामी की अभिपुष्टि से अनुगामी की अभिपुष्टि करने की भ्रान्ति में है। तार्किक को पूर्ववर्ती तथ्यों से कुछ सरोकार नहीं रहता यदि उनसे निकाले गए परिणाम तर्कानुसार निर्धारित किए जायं।

अरस्तू द्वारा इस प्रकार प्रारम्भ किए गए तर्कपूर्ण दृष्टिकोण को उसके बाद के विवेचकों ने पवित्रता का जामा पहिना दिया और आज भी वह समीक्षा सम्बंधी विचार को क्षति पहुंचा रहा है संभाविता या तर्कपूर्ण आवश्यकता के सिद्धांत ने साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र मे अन्यायपूर्वक ऐसा अधिकार जमा लिया है जो किसी प्रकार भी उचित या प्रामाणिक नहीं ठहराया जा सकता।

जहां तक साहित्य का सम्बंध है अरस्तू द्वारा सूचित संभाविता का सिद्धांत निरर्थक और असंगत है। वह विस्तृत और संकुचित दोनों दृष्टिकोणों से भेद्य है। पहली बात तो यह है कि 'संभाव्य अशक्यताओं' तथा 'असंभाव्य अशक्यताओं' में अरस्तू ने जो भेदीकरण किया है वह किसी भी बौद्धिक विश्लेषण के सामने दार्शनिक रूप में टिक नहीं सकता। कोई भी घटना तभी शक्य है जब इसको घटित होने से रोकने

---

१. वह मिथ्या को उस रूप में बताये जिसमें उसे बताना चाहिये।

वाली कोई बात वास्तविकता में न हो । यदि वास्तविकता की प्रकृति उसे होने से रोक ले तो वह अशक्य हो जायगी । परन्तु 'सम्भाविता' और 'असम्भाविता' में ऐसा कोई विरोध नहीं । वह दोनों मूलरूप में एक समान प्रवृत्ति की शक्ति की केवल विभिन्न मात्राएं अभिव्यक्त करती हैं । कोई घटना तब सम्भाव्य होती है जब वास्तविकता और उसके पूर्वगामी तथ्यों तथा उसकी प्रवृत्तियों का हमारा ज्ञान इस विश्वास का प्रमाण रहता है कि यह बात होनी सम्भव है । पर यदि यह ज्ञान ऐसा विश्वास उत्पन्न करे कि यह बात हो नहीं सकती तो वह असम्भाव्य हो जाती है । दोनों ही निश्चित एवं स्पष्ट अनुमान हैं । और इनका निर्देश वास्तविकता में उस क्षण काम करने वाले तथ्यों में हमारी सूझ से है । वास्तविकता के हरएक तथ्य तो हर क्षण काम करते रहते हैं, परन्तु क्योंकि हम परिमित हैं इसलिए इन सब तथ्यों को नहीं जान सकते । यही कारण है कि कुछ मात्रा तक हमारे सभी अनुमान संभाव्य रहते हैं, असंभाव्य ज़रा कम संभाव्य होते हैं । अब जो कुछ भी संभाव्य है, चाहे कम हो या ज्यादा, अवश्य ही शक्य होना चाहिए । और जो अशक्य है, यानी वास्तविकता की प्रकृति के कारण हो नहीं सकता, कभी संभाव्य भी नहीं होगा । इसलिए संभाव्य अशक्यता की धारणा अवबोध्य नहीं । और असंभाव्य अशक्यता अवबोध्य तो है पर है निरर्थक, क्योंकि अशक्यता से केवल यही भान नहीं होता कि वह घटना संभवतया हो नहीं सकती बल्कि यह कि वह कभी होगी ही नहीं । 'सम्भावित अशक्यताओं' के बारे में कुछ करना यह मौनरूप से स्वीकार कर लेना है कि वास्तविकता का निर्धारण उसकी प्रकृति के अतिरिक्त और किसी बात से भी हो सकता है ।

दूसरी ओर क्योंकि वास्तविकता स्वनिर्धारित है, जो कुछ भी शक्य है है निश्चित रूप से अनिवार्य भी है अवश्य होगा और सम्भाव्य तथा असम्भाव्य का वर्गीकरण इसके लिए प्रयोज्य नहीं । सो अरस्तू के सामने एक विकल्पना पैदा हो जाती है । या तो वह कार्य-कारण-सम्बन्धी सिद्धांत

(Postulate of Causalty) को, जो विश्व के वास्तविक निश्चय का आनुभाविक प्रतिरूप है, छोड़ देते और केवल शक्यताओं का ही ज़िक्र करते, क्योंकि तब कुछ भी सम्भाव्य या अशक्य नहीं रहता। अथवा वह कार्य-कारण सिद्धांत को ग्राह्य समझते, और क्योंकि तब सब सम्भाविताएं शक्य होतीं, केवल सम्भाविताओं का ज़िक्र करते। उनके सामने केवल यही दो रास्ते थे। वह या तो अपने कार्य-कारण-सम्बन्धी स्वीकृत सिद्धांत को भुला कर यह मानते हुए कि प्रकृति या वास्तविकता में असम्भाव्य शक्यताएं हो सकती हैं, कवि को इन सब का त्याग करके केवल सम्भाव्य शक्यताओं तथा शायद संभाव्य अशक्यताओं को भी अपनी कृति में स्थान देने की प्रताड़ना करते। इसके विपरीत यदि वह अपने वास्तविक घटनाओं के कार्य-कारण-सम्बन्धी सिद्धांत पर अटल रहना चाहते तो उन्हें ऐतिहासिक और काव्यमय सत्यता के अपने भेदीकरण को भुलाना पड़ता। सारांश यह कि अरस्तू केवल अपने दर्शन का त्याग करके ही अपनी Poetics को यानी उसमें वर्णित सिद्धांतों का प्रतिपादन कर सकते हैं।

सो दार्शनिकता के अनुसार 'सम्भाव्य-असम्भाव्य' और 'शक्य-अशक्य' का वर्गीकरण वास्तविकता के एक ही प्रकार और एक ही मात्रा के ज्ञान पर आधारित है। इसलिए दोनों की पारस्परिक अदलाबदली हो सकती है। प्रत्युत साधारण वास्तविकता तथा प्रवर्ती वास्तविकता में भेद भी सही अंशों में ग्राह्य नहीं कहा जा सकता।

परन्तु ऐसा तर्क किया जा सकता है कि दर्शन भले ही 'सम्भाव्य अशक्यताओं' और 'असम्भाव्य अशक्यताओं' के भेद को न माने, उसका अनुमोदन न करे, फिर भी यह धारणा साहित्यिक समीक्षा के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकती है। यह तो हम देख चुके हैं कि साहित्यिक कृति के परिमित क्षेत्र यानी दुःखान्त नाटक में लागू करने के लिए प्रनियम को कैसे सूत्रित किया गया था। इस सूत्र को हम इस प्रकार लिख सकते हैं। यदि 'क' पात्रों के समूह को सूत्रित करता हो और 'ख' घटनाओं को तथा

'ग' अन्त को, तो सूत्र होगा :

क × ख = ग

इस प्रकार सूत्रित करने से तो नियम सत्याभासक जान पड़ता है। परन्तु ध्यानपूर्वक निरीक्षण करने से पता चलेगा कि सारा विवरण निरर्थक है और जिस तरीके से साहित्यिक सम्पूर्णताओं का अभिमूल्यन किया जाने लगा उसके विषय में अनभिज्ञता दरशाता है। वास्तविक जीवन में चाहे कुछ भी होता हो, परन्तु दुःखान्त नाटक या किसी भी कहानी के पात्रों का *निर्माण* कथावस्तु से होता है। यह कभी नहीं होता कि पात्र तो आपके सामने पहिले आ जायं और घटनाओं का क्रम उसके बाद शुरू हो। पात्रों के विषय में हमारी धारणा घटनाओं पर ही आधारित होती है। पात्र कभी तथ्य नहीं होते, वह सदैव अनुभव होते हैं। यह एक स्पष्ट बात है, परन्तु अभी तक इसको प्रशंसापूर्वक ग्रहण करते हुए मैंने एक ही आलोचक को देखा है। वह हैं C. H. Pickword। 'Calendar of Modern Letters' के एक अंक में कथा-कहानी पर लिखे हुए उनके लेख में मैंने यह पढ़ा :

"Actually, then, character is, to borrow *biological jargon*, an emergent quality of the novel. It emerges from the story, which is itself structurally a product of language, eloquence···."[1]

तात्पर्य यह कि ऊपर हमने जिसे 'क' चिन्ह से निर्देशित किया है वह, जैसा कि अरस्तू की धारणा के अनुसार होना चाहिए था, 'ग' को निर्धारित नहीं करता। वह तो उलटा स्वयं 'ग' पर निर्भर है। हम यह नहीं

---

१. जैविकीय भाषा का प्रयोग किया जाय तो यह कहना ठीक होगा कि वास्तव में पात्र कहानी का आवश्यक अंग हैं। वह कथा से निर्मित होते हैं और कथा भी अपने निर्माण के अनुसार भाषा की उपज है।

बता सकते कि सम्भाव्य और आवश्यक क्रम के द्वारा 'क' ने 'ग' को प्राप्त किया या नहीं, क्योंकि 'ग' को अच्छी तरह जाने बिना हम 'क' को भी पूर्णरूप से समझ नहीं सकते। केवल यही नहीं, 'ग' 'क' में ही अन्तर्भूत है। वास्तव में 'क' घटित ही 'ग' से होता है। 'ग' तो उसके अस्तित्व की शर्त है। 'क' और 'ग' विषयक अपनी धारणाओं का शुद्धीकरण करना ही सम्भाव्य और आवश्यक क्रम के प्रनियम के अधिकार की निरर्थकता को जान लेना है। प्रयोजनीय ढंग के 'क' को रख लेने से सम्भाविता के प्रनियम के अनुसार हम किसी भी अनुक्रम को 'ग' तक पहुंचता दिखा सकते हैं, क्योंकि यह तो आवश्यक ही है कि 'क' को 'ग' के अर्थ में वर्णन किया जाय और समझा जाय। परन्तु इसके विपरीत यदि हम हठ करने का साहस कर लें और 'क' के चित्रण में 'ग' की परवाह करने से इन्कार कर दें तो बड़े से बड़ा तार्किक, यहां तक कि अरस्तू भी, हमें ऐसा कोई अनुक्रम नहीं दिखा सकेगा जिसमें यह प्रनियम पूरा उतरता हो।

ऊपर जो कुछ मैंने लिखा है यदि किसी को उसकी सत्यता के बारे में शंका हो तो उसे चाहिए कि Œdipus, Lear, Faust आदि पात्रों के विषय में अपनी धारणाओं की परीक्षा करे, और यह निर्धारित करे कि हर बार वह उत्कर्ष बिन्दु पर कितनी निर्भर रहती हैं। फिर उसे चाहिए कि कल्पना के महान् प्रयत्न द्वारा इन धारणाओं को अन्त से पृथक् कर दे, यानी अन्त को भुला दे और अन्त द्वारा प्राप्त अंश को निकाल दें। फिर यह सोच कर देखे कि उसी मात्रा की कल्पना से युक्त लेखक उन घटनाओं के क्रम से पात्रों का और कोई अनिवार्य अन्त जता सकता था या नहीं।

संक्षेप में, यह कभी भूलना नहीं चाहिए कि अरस्तू के सम्भाव्यता सम्बन्धी सिद्धांत के अनुसार यह आवश्यक है कि प्रारम्भ से एक विशेष गुण-दोषों वाला पात्र निर्धारित कर लिया जाय। स्पष्ट है कि यह शर्त पूरी करना मुशकिल है। यह उस विशेष ज्ञान की अपेक्षा करता है जिसका उन परिस्थितियों में, खासकर जिस समय इसकी आशा की जाती है, अपेक्षा करने का कोई हक नहीं।

सच्ची बात तो यह है कि 'सम्भाविता' का जो अर्थ Inductive तार्किक लगाते हैं, अरस्तू को उसका अनुमान भी न था। जो आवश्यकता उसके प्रारम्भ, मध्य और अन्त को सम्पूर्णता के रूप में बांधती है, वह उस आवश्यकता से जो उसके संवाक्य अनुमान को नियमित करती है, न कम है न अधिक। यदि पूर्वावयव दे दिए जायं तो परिणाम स्वयं ही निकल आयगा। तर्क की दृष्टि में दोनों आवश्यकताओं का महत्त्व एक ही तक है।

सत्य के अनुसंधान के प्रति अपने पूर्वपक्षपातों और उनके कारण—यद्यपि बिल्कुल अनजाने–साहित्यिक समस्याओं का वर्णन करने पर तर्क के मार्ग पर सरक जाने की अरस्तू की इस प्रवृत्ति के अलावा भी यह देखना कठिन नहीं कि अरस्तू को क्योंकर साहित्य का तर्क के द्वारा अनुशीलन करने का गलत प्रलोभन हुआ, और उनके बाद के समीक्षक भी क्यों इससे चिपके रहे। साहित्य भावनाओं की भाषा में अनुभव का संगठन है। विचार, क्रियायें, घटनायें, और परिस्थितियां, अनुभव के यह सब विभिन्न प्रकार के और विपुल अंग, केवल चित्त को उलीडन करने वाली अपनी भावनात्मक शक्ति के बल पर साहित्य में प्रयुक्त होते हैं। यानी अनुभव के उन सब विभिन्न प्रकारों का उपयोग भावनाओं में अपने को परिवर्तित करने की उनकी शक्ति पर निर्भर है। तभी तो Butcher ने कहा है कि "Drama is will or emotion in action"[1] अनुभवों के इस संगठन को प्रस्तुत करने के तरीकों और साधनों के अनुसार साहित्यिक कृतियां विभिन्न होती हैं जैसे कि नाटक, उपन्यास, महाकाव्य आदि। उनका रूप इन बातों पर निर्भर होता है कि वह चेष्टा और शब्दों दोनों द्वारा या केवल शब्दों द्वारा अभिव्यक्त होती हैं, उनमें शब्द विशेषाकार में प्रस्तुत किए गए हैं या नहीं, आदि।

अब क्योंकि यह अनुभव तथा भावनाएं चेतन प्राणी के अनुभव

---

१. नाटक क्रियारत भावनाएं या इच्छा शक्ति है।

तथा भावनाएं हैं, और क्योंकि मनुष्य विवेकयुक्त प्राणी समझा जाता है, भावनात्मक संगठन साधारणतया एक अन्तर्हित विवेकमय प्रवृत्ति के समानान्तर चलता है। इन दोनों प्रवृत्तियों के इस समानान्तर व्यवहार से यह निष्कर्ष निकालने का प्रलोभन होना स्वाभाविक है कि अवश्य ही एक को प्रयुक्त करने वाला प्रनियम दूसरे पर भी लागू होगा। पर अजीब या असंगत ही नहीं, बल्कि आश्चर्यजनक बात तो यह है कि अरस्तू भी इस प्रलोभन में फंस गए। पहली बात तो यह है कि उन्होंने संगीत, नृत्य आदि ललित कलाओं को साहित्य से सहसम्बन्धित करने की चेष्टा की, और साहित्यिक कृति को कलात्मक कृति से इस प्रकार जोड़ने का यत्न किया कि साहित्यिक कृति को समझना या उसका वर्णन करना कलात्मक कृति के ही एक विशेष रूप को समझने और वर्णन करने के बराबर हो जाय। अब संगठन दूसरी ललित कलाओं के लिए भी उतना ही आवश्यक है जितना साहित्य के लिए। इसकी वास्तविक प्रवृत्ति तो और भी ज्यादा आसानी से इन दूसरी ललित कलाओं में पहचानी जा सकती है। अरस्तू भी इस सत्य को कुछ अंश तक तो अवश्य पहचान सके हैं। तभी तो उन्होंने लिखा है :

"The most beautiful colours laid on confusedly will not give as much pleasure as the chalk outline of a portrait."[1]

परन्तु उन्होंने इस मत का अधिक अनुशीलन नहीं किया और शायद इसी कारण अन्य कलाओं द्वारा साहित्य पर जो प्रकाश पड़ सकता है उसके मनन करने की रीति का दृढ़तापूर्वक प्रतिपादन नहीं कर सके।

यदि उन्होंने ऐसा किया होता और उन प्रनियमों का जो सौंदर्य और

---

१. चित्र के चॉक से खींचे हुए खाके से ही जितना आनन्द प्राप्त होता है उतना सम्भ्रांति से थोपे हुए परम सुन्दर रंगों से भी नहीं हो सकता।

सौंदर्यनिष्ट आनन्द के वास्तविक मूल संगठन की सृष्टि करते हैं, ज्यादा गहरा मनन किया होता तो वह देखते कि साहित्य की परख के लिए सम्भाविता का सिद्धांत और उसमें निहित तर्कपूर्ण आवश्यकता कितनी असंगत है। दूसरी बात यह है कि अरस्तू का विषय नाटक था और नाटक या साधारण साहित्य के किसी संगठन में ऐसी कोई असम्भवता निहित नहीं रहती। विचारतल पर आधारित तर्कपूर्ण संगठन की भावनातल पर प्रतिकृति वैसे ही कलात्मक और कवितामय ढंग से संतुष्टिप्रद रहती है।

एक ही संगठन तर्कपूर्ण और सौदर्यपरक दोनों ही हो सकता है। पर ऐसा होना आवश्यक तो नहीं। अरस्तू के सामने तो यह तथ्य और स्पष्ट होना चाहिए था क्योंकि वह नाटक के बारे में लिख रहे थे। और नाटक का प्रादुर्भाव तो प्रायः नैसर्गिक आचरण के आदर्शों से होता है, तर्कपूर्ण विचारों द्वारा आदेशित आचरण के आदर्शों से नहीं। यही कारण है कि न्यूयार्क की गलियों की अपेक्षा अफ्रीका के जंगलों में अधिक नाट्य है। नाटक की उत्पत्ति और क्षय का इतिहास भी, मनुष्य के कार्य के नियन्त्रण में तर्क में जो उलटफेर हुए हैं, उनकी भाषा में लिखा जा सकता है। जब-जब तर्क का ज़ोर रहा नाट्य का क्षय होने लगा और तर्क का नियन्त्रण हटते ही नाट्य फलने-फूलने लगा।

संगठन कई प्रकार के होते हैं। वर्तमान प्रकरण के लिए हम उन्हें निम्नलिखित रीति से विभक्त कर सकते हैं :
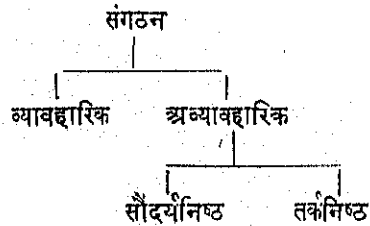
व्यावहारिक का उद्देश्य उसके बाहर होता है और पिछले निबन्ध में मैंने उसका कुछ वर्णन किया है। केवल क्योंकि मैं सौंदर्यनिष्ठ संगठन से

भेद जताना चाहता था, इसलिए मैंने व्यावहारिक को सौंदर्यहीन कहा था। अव्यावहारिक संगठन अपने को प्राप्त करने में ही अपने उद्देश्य की पूर्ति कर लेता है। यदि वह उद्देश्य सत्य हो तो संगठन तर्कनिष्ठ और यदि सौंदर्य हो तो संगठन सौंदर्यनिष्ठ कहलायगा। तर्कनिष्ठ संगठन के विभिन्न मार्ग तर्क के प्रनियमों या शुद्ध-विवेचन द्वारा एक विवेकशील सम्पूर्णता में ढले हुए होते हैं, परन्तु सौन्दर्यनिष्ठ के अंश सौन्दर्य के प्रनियमों से बंधे हुए होते हैं। गणित या दर्शन सम्बंधी पद्धति तर्कनिष्ठ संगठन का अत्यन्त जटिल उदाहरण है। त्रिपदात्मक प्राक्कथन से निकाला गया अनुमान या संवाक्य ऐसे संगठन का सादा दृष्टान्त है। Beethoven की symphony सौंदर्यनिष्ठ प्रकार का अतिश्रेष्ठ और गीत साधारण उदाहरण है। चाहे साधारण हो या जटिल, तर्कनिष्ठ संगठन का आधार विचारों के प्रनियम होते हैं। परन्तु सौंदर्यनिष्ठ सम्पूर्णता को प्रकट करने के लिए विचारसम्बंधी किसी प्रनियम का सहारा ढूंढने की आवश्यकता नहीं।

जब चित्रकार अपने चित्र में किसी स्थान पर हरा रंग भर देता है, या संगीतज्ञ पियानो पर विशेष स्वर निकलाता है, तो बड़े से बड़ा तार्किक भी यह नहीं बता सकता कि उसके निकटवर्ती स्थान में वह कौन-सा रंग भरेगा या अगला स्वर क्या होना चाहिए। विचार का कोई भी प्रनियम इन बातों को निर्धारित नहीं कर सकता। इन बातों का निश्चय तो सौंदर्यनिष्ठ भावनाएं और उनके द्वारा अभिव्यक्त होते हुए सौंदर्य के प्रनियम ही करेंगे। सौंदर्य के इन प्रनियमों में कुछ हैं: विपर्यय, अनुरूपता, संतुलन और ताल। इन सबकी गहरी या विवेचना-युक्त परीक्षा तो मेरे निबन्ध के क्षेत्र के बाहर है। मैं तो केवल यह बताना चाहता हूं कि सौंदर्यनिष्ठ सम्पूर्णता वास्तविक रूप में इन प्रनियमों द्वारा बद्ध होती है, और यही उसकी संतुष्टिप्रद प्रकृति का कारण है, तर्क के प्रनियम नहीं। सौंदर्यनिष्ठ सम्पूर्णता में जो प्रामाणिकता रहती है वह उसके अंशों की सौंदर्य के प्रनियमों के अनुसार प्रबन्धरचना में है, वैचारिक सुसंगति की तर्कनिष्ठ प्रामाणिकता नहीं।

किसी भी प्रनियम की धारणा में आवश्यकता संनिहित है। जब कभी सम्पूर्णता प्रनियम द्वारा बद्ध होती है तब उस सम्पूर्णता की प्रकृति भी निश्चित रूप से निर्धारित हो जाती है। जहां यह प्रनियम तर्कनिष्ठ हो, आवश्यकता तर्कनिष्ठ रहती है। जहां यह प्रनियम सौंदर्यनिष्ठ हो, आवश्यकता सौंदर्यनिष्ठ रहती है। दूसरे शब्दों में, जो संगठन विशिष्ट है क्योंकि वह सुन्दर है, जो सम्पूर्णतायें कलात्मक कृतियां हैं, वह तर्कनिष्ठ या मनोविज्ञानयुक्त आवश्यकता के स्थान पर सौंदर्यनिष्ठ आवश्यकता से घिरी रहती हैं। इस बारे में अरस्तू तथा अन्य प्रकृतिवादी विवेचकों की तर्कनिष्ठ आवश्यकता की धारणा ठीक नहीं है और न ही अतिवास्तववादियों की मनोविज्ञानयुक्त आवश्यकता की धारणा ठीक है। यद्यपि यह सत्य है कि दोनों प्रकार की आवश्यकताएं बिल्कुल अपवर्जित नहीं।

यहां फिर अरस्तू के सम्भाविता और आवश्यकता सम्बन्धी सिद्धांत को लाना पड़ेगा। क्योंकि अरस्तू ने इस बात को माना है कि संगीत, चित्रकला और नृत्य की तरह कविता और साहित्य भी ललित कलाएं हैं, वह इस बात के लिए बाध्य हैं कि साहित्यिक कृति, संगीत या चित्र सबका सौंदर्यनिष्ठ सम्पूर्णताओं के रूप में मनन करें। पर यदि यह सब सौंदर्यनिष्ठ सम्पूर्णताएं हैं तो यह आवश्यक है कि उनको सौंदर्यनिष्ठ बनाने वाला गुण एक ही हो। साहित्यिक कृति ऐसे किसी गुण के कारण सौंदर्यनिष्ठ सम्पूर्णता नहीं कहला सकती जो सौंदर्यनिष्ठ कहलाने वाले संगीत, चित्र या नृत्य में न हो। क्योंकि उन सब को सौंदर्यनिष्ठ सम्पूर्णता प्रदान करने वाला विशिष्ट गुण सौंदर्यनिष्ठ आवश्यकता में निहित है। सो, केवल सौंदर्यनिष्ठ आवश्यकता ही उस रूप को विनिहित कर सकती है जिसके कारण साहित्यिक कृति कलात्मक कृति कहलाने का दावा कर सके।

साहित्यिक श्रेष्ठता की कसौटी का निर्धारण इसी आवश्यकता से होना चाहिए। किसी भी साहित्यिक कृति का कलात्मक कृति के रूप में महत्व उसका इस आवश्यकता के प्रति अनुरूपता की कम या अधिक मात्रा पर

निर्भर रहना चाहिए, और किसी बात पर नहीं। यहां तक भी कहा जा सकता है कि साहित्यिक कृति तर्कनिष्ठ विचारों के प्रनियमों और तर्कनिष्ठ आवश्यकता का उल्लंघन करके भी पूर्णतया संतोषप्रद सौंदर्यनिष्ठ संपूर्णता हो सकती है। परन्तु इस धारणा को यहां तक मानने में प्रतिवाद किया जाय तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि साहित्य में सौंदर्यनिष्ठ आवश्यकता और कुछ नहीं, केवल तर्कपूर्ण आवश्यकता का दूसरा रूप है। तर्कनिष्ठ आवश्यकता, संगठित करने वाले नियम के रूप में कुछ माने नहीं रखती। क्योंकि साहित्यिक कृति में कोई भी चीज़ तर्क के अनुसार आवश्यक जताई जा सकती है, यद्यपि कोई भी अनिवार्य रूप से नहीं होती।

अन्त में यह कहना है कि तर्कनिष्ठ आवश्यकता का यह सिद्धान्त, जिस पर अरस्तू का सम्भाव्य और आवश्यक क्रम का सिद्धान्त आधारित है, साहित्यिक समीक्षा के निर्माण में निरर्थक और असंगत है।

जैसा कि मैंने दिखाया है, साहित्यसम्बन्धी संगठन के विषय में अरस्तू की गलत धारणा का सबसे बड़ा कारण साहित्य के माध्यम की प्रकृति था। मैं यह फिर कहना चाहता हूं कि जो कुछ मैंने लिखा है उससे हमारे समीक्षात्मक निर्णयों के सूत्रीकरण में कुछ विशेष अन्तर सम्भवतया नहीं पड़ेगा। और मेरी यह स्वीकृति भी साहित्य के माध्यम की प्रकृति के कारण ही है। पर यदि अरस्तू ने साहित्यिक सम्पूर्णता के आन्तरिक तत्व-सहित उसकी सौंदर्यनिष्ठ प्रकृति को समझ लिया होता तो 'दुःखान्त नाटक के नायक', 'भावनाशुद्धीकरण', 'संयोग' आदि के बारे में जो कुछ उन्होंने कहा है उसको कविता के अधिक व्यापक सिद्धान्त के रूप में रखते।